ॐ

श्री जीवंधर स्वामीका संक्षिप्त जीवन चरित्र।

प्रथम लम्ब।

इस जम्बूद्वीपमें भरतक्षेत्रकी राजपुरी नामकी राजधानीमें एक सत्यंधर नामका राजा रहता था उसकी विजया नामकी सर्व गुणसम्पन्न एक रानी थी इस रानी पर वह राजा इतना मोहित हो गया था कि राजाने अपना सम्पूर्ण राज्याधिकार काष्टाङ्गार नामके किसी राज्य कर्मचारीको दे दिया था उस समय मंत्रियोंने उसे बहुत समझाया पर विषयासक्त होनेके कारण राजाने किसी की एक न सुनी. फिर कुछ दिनोंके अनन्तर उस विजया रानीको गर्भ रहा उस समय रानीको रात्रिके पिछले भागमें तीन स्वप्न दिखाई दिये उनका फल विचार कर राजाको यह निश्चय हो गया कि मैं अवश्य मारा जाऊंगा। इस लिए उसने गर्भवती रानीकी रक्षा करनेके लिये आकाशमें उड़नेवाला एक मयूराकृति यन्त्र बनाया और तदनुसार वह प्रतिदिन रानीको यन्त्रमें बिठ-लाकर कलके द्वारा आकाशमें उड़ानेका अभ्यास कराने लगा। इधर उस सम्पूर्ण राज्याधिकारी काष्टाङ्गारको क्या दुष्टता सूझी कि इस राजाके जीवित रहते हुए मैं पराधीन सेवक कहलाता हूं इस लिये राजाको मारकर मुझे स्वतंत्र हो जाना चाहिये फिर ८

एक दिन मंत्रियोंसे यह वहाना वनाया कि एक देव मुझसे राजाको मार डालनेके लिये आग्रह करता है।

मंत्रियोंमेंसे एक धर्मदत्त नामके मन्त्रीने उसकी दुष्टता समझ कर बहुत समझाया किन्तु उस दुष्टने उसकी बात अनसुनी करके राजाके मारनेके लिये एक बड़ी भारी सेना भेजी। राजाने द्वारपालके द्वारा मारनेके लिये आई हुई सेनाको सुनकर, रानीको यन्त्रमें बिठलाकर आकाशमें उडा दिया और स्वयं युद्ध करनेके लिये चल दिया युद्ध करते हुए राजाने विचारा कि वृथा मनुष्यहत्या हो रही है यह विचार कर राजा युद्धसे विरक्त हो गया और संसारकी अनित्यताका विचार करने लगा अन्तमें सम्पूर्ण परिग्रहोंको छोडकर अपने आत्मस्वरूपका चिंतवन करता हुआ युद्धमें मारा गया और मरकर देव हुआ। उस समय सारे पुरवासी लोग उदास और विरक्त होकर नाना प्रकारके विचार करने लगे और काष्टाङ्गार निष्कंटक होकर राज्य करने लगा।

उसी नगरीमें एक गन्धोत्कट नामका सेठ रहता था एक दिन वह तात्कालिक उत्पन्न हुए और फिर मरे हुए पुत्रको लेकर स्मशानमें उसकी मृत्यु क्रिया करनेके लिये गया तत्पश्चात् किसी मुनिके कथनानुसार वहां पर जीवित पुत्रकी खोज करने लगा। दैव योगसे सत्यन्धरकी विजया रानीको उस यन्त्रने उसी स्मशान भूमिमें जा पटका और उसी विपत्ति अवस्थामें मूर्छित रानीके एक सुन्दर पुत्र हुआ उस पुत्रके पुण्य माहात्म्यसे वहा एक देवी धायका रूप धारण करके आई और उसने विजया रानीको

आश्वासन देकर पुत्रके पालन करनेकी चिन्ताको दूरकर कहाकि तुम्हारे इस पुत्रको राजपुत्रोंके सदृश कोई दूसरा पालन करेगा इस लिये तुम इसको यहां ही रखकर छिप चलो। रानी भी विवश होकर उसके कथनानुसार पिताकी मुद्रासे युक्त पुत्रको जीव यह आशीर्वाद देकर छिप गई और उसी समय उडते फिरते हुए गन्धोत्कटने उस पुत्रको देखकर उठा लिया और जीव यह आशीर्वाद सुनकर जीवक व जीवंधर उसका नाम रक्खा। और घर आकर अपनी सुनन्दा नामकी स्त्री पर कृत्रिम कोपकर कहा मूर्ख! तूने जीवित पुत्रको कैसे मरा हुआ कह दिया वह भी आनन्दसे उस जीवित पुत्रको गोदमे लेकर फूली न समाई और मारे खुसीके उसका चित्त उछलने लगा फिर क्या था उसने बालकको अच्छी तरह पालन पोषण किया।

पुत्रकी खुशीमें गन्धोत्कटने एक बडा भारी उत्सव किया जिसको मूढ काष्टाङ्गारने अपने राजा होनेकी खुशीमें समझकर गन्धोत्कटको बुलाकर बहुत कुछ धन दिया फिर गन्धोत्कटने उस समयके उत्पन्न हुए छोटे २ बालकोंको प्राप्तकर उनके साथ जीवंधर कुमरका पालन किया फिर कुछ दिनके पश्चात् उस कुमारके पुण्य प्रभावसे सुनंदाके एक और गन्धोत्कट नामका पुत्र हुआ जिससे जीवंधरकी शोभा और बढ गई। इधर धात्री वेष धारी देवी विजया रानीको दण्डकारण्यमें तपस्वियोंके समीप छोडकर स्वयं किसी बहानेसे चली गई।

तृतीय लम्ब।

पूर्वोक्त पुरीमें ही एक श्री दत्त नामका सेठ रहता था उसे पूर्व पुरुषोंका अधिक संचित धन रहनेपर भी अपने हाथसे धन कमानेकी इच्छा हुई वह नाना प्रकारकी वस्तुओंको बेचनेके लिये नौकाओंमे माल भरकर व्यापार करनेके लिये द्वीपान्तरोंमें गया वहासे व्यापार द्वारा धन सम्पन्न होकर नौका द्वारा लौटा लौटते समय समुद्रमें इसकी नौका बडे भारी जलके प्रवाहसे डूबने लगी उस समय नौकामें बैठे हुए अपने साथके मनुष्योंको इसने धैर्य रखनेका उपदेश दिया पश्चात् नौकाके डूबनेके समय दैवयोगसे उसे समुद्रमें बहता हुआ एक बडा भारी लकडीका टुकडा दिखाई दिया यह उसको अवलम्बन करके कथमपि किनारेपर पहुचा वहा उसने एक अपरचित आगन्तुक पुरुषसे अपना सारा वृतान्त कहा उस पुरुषने भी आश्चर्य युक्त पुरुषकी तरह इसका वृतात सुन और फिर वृतात सुनकर इसे किसी बहानेसे विजयार्ध पर्वतपर ले गया और वहां जाकर इस विद्याधरने अपना सारा वृतांत इससे कह सुनाया अर्थात् मैंने ही तुमको नौकाके नाशकी भ्रान्ति कराकर लकडीके टुकडेके सहारे किनारे पहुचाया है और वहासे फिर यहा लाया हू ऐसे करनेका मतलब यह है कि मेरे स्वामी गान्धार देशमें नित्यालोका नामकी पुरीके राजाके साथ तुम्हारी कुल परंपरासे मित्रता चली आई है और उन्होंने ... लानेके लिये मुझे यहां भेजा है इस लिये मुझे और ... न सूझकर इस उपायसे आपको यहां लाया हू कृपया ... मिलनेके लिये चलिये।"

पांचवां लम्ब ।

जीवंधरके कुंडलकी चोटसे दुःखित होकर हाथीने खाना पीना छोड दिया इस समाचारको सुन कर पूर्व कारणोंसे क्रोधित काष्टाङ्गारने जीवंधर स्वामीको पकडनेके लिये अपने मथन नामके सालेको बहुत सेनाके साथ भेजा । जीवंधर भी गुरुके समक्ष की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार और गन्धोत्कटके समझानेसे नहीं लडा फिर क्या था काष्टाङ्गारकी सेनाके मनुष्य उसके हाथ बांध कर राजाके सामने ले गये उस दुष्टने कुमारको जानसे मारडालनेके लिये आज्ञा दे दी मारनेके समय यक्षेन्द्र अपनी विक्रियासे जीवधर स्वामीको वहांसे उठा ले गया और अपने स्थान पर ले जा कर जीवंधर स्वामीका क्षीरसागरके जलसे अभिषेक कर उनको "अपनी इच्छानुसार रूप बनानेमें, गानेमें और सर्पका विष दूर करनेमें शक्तिमान तीन मन्त्रोंका उपदेश दिया" पश्चात यक्षकी अनुमतिसे वहांसे चलकर कुमारने वनमें वन अग्निसे जलते हुए हाथियोंको देखकर सदय हृदय हो भगवानका स्तवन किया जिसके प्रभावसे उसी समय मेघगर्जना करते हुए वरसे यह देखकर जीवधर स्वामीको अत्यन्त प्रसन्नता हुई पश्चात वहांसे चलकर अनेक तीर्थ स्थानोंको पूजते हुए चन्द्राभा नगरीमें पहूंचे वहांके राजा धनपतिकी पुत्री पद्माको सांपने काट खाया था जिसको मन्त्रके प्रभावसे जीवदान देकर राजासे सम्मानित हुए अन्तमें राजाने पद्माका जीवंधर स्वामीके विवाह कर दिया ।

—⋙⋘—
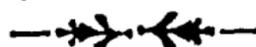
छटवां लम्ब।

फिर कुछ दिन वहीं रहकर जीवंधर स्वामी वहासे विना कहे ही चल दिये और मार्गमें अनेक तीर्थस्थानोंको वन्दना करते हुए एक तपस्वियोंके आश्रममें पहुंचे वहांपर तपस्वियोंको पंचाग्नि आदिके मध्यमें तप करते हुए देखकर उन्हें अनेक प्रकारसे धर्मका उपदेश देकर. सच्चे धर्मका स्वरूप समझा कर भगवत प्रणीत सम्यक् तपमें प्रवृत कराया फिर वहांसे चलकर जीवंधर कुमार दक्षिण देशके सहस्र कूट चैत्यालयमें पहूंचे वहांपर जिन मंदिरके किवाड बन्द देखकर बाहरसे ही भगवतका स्तवन प्रारम्भ किया जिसके प्रभावसे जिनमन्दिरके किवाड खुल गये यह देख कर पूर्वसे रहनेवाला वहाका एक मनुष्य जीवंधर स्वामीसे आकर विनयपूर्वक मिला उसने जीवंधर स्वामीने पूछा तुम कौन हो और किस लिये यहां रहते हो उसने कहा मैं क्षेमपुरीमें रहनेवाले सुभद्र नामके सेठका किंकर हूं उसकी क्षेमश्री नामकी कन्याके जन्मलग्नमें ज्योतिषियोंने यह गणना की है कि जिसके आनेपर सहस्र कूट मन्दिरके किवाड खुलेंगे वह इसका पति होगा उस मनुष्यकी परीक्षा करनेके लिये भेजा हुआ यहां रहता हूं भाग्य-वश ! आज आपके शुभागमनसे जिन मदिरके किवाड़ खुल गए हैं इसलिये आप यहां पर कुछ देर ठहरिये ताकि मैं अपने स्वामीको आपके शुभागमनकी सूचना दे आऊं फिर उस मनुष्यने शीघ्रही अपने स्वामीके पास जाकर प्रसन्नता पूर्वक जीवंधर स्वामीका सारा वृतान्त कह सुनाया सुभद्र भी यह बात सुनकर शी

बहाना बनाकर वहांसे शीघ्र ही चली गई उसका पति वहां आकर जीवंधर स्वामीसे कहने लगा कि हे महाभाग ! मैं अपनी प्यासी स्त्रीको इस वनमें बिठलाकर जल लानेके लिए गया हुआ आकर नहीं देखता हूं और विद्याधरोंके उचित मेरी विद्याभी न मालूम इस समय कहां चली गई जीवंधर कुमार उसके यह वचन सुनकर स्त्रीमें अत्यन्त प्रेम करनेसे डरे और उस भवदत्त विद्याधर-को बहुत समझाया किन्तु उस कामातुरके चित्तमें जीवंधर स्वामीके उपदेशने कुछ भी असर नहीं किया फिर वहांसे चलकर जीवंधर कुमार हेमाभा नाम नगरीके समीप पहुंचे वहां दृढमित्र राजाके सुमित्रादि बहुतसे पुत्र अपने २ बाणों द्वारा बगीचेमें आम्रके फलोंको तोड रहे थे किंतु उनमेंसे कोई भी धनुर्विद्यामें चतुर नहीं था कि आम्र सहित बाणको वापिस अपने हाथमें ले आये किंतु जीवंधर स्वामीने आम्र सहित बाणको अपने हाथमें लेकर उन्हें दिखा दिया यह देख कर बड़े राजकुमारने उनसे कहा कि यदि आप उचित समझें तो हमारे पितासे मिलनेकी कृपा करें वे बहुत दिनोंसे धनुर्विद्यामें चतुर विद्वानकी खोजमें हैं जीवंधर कुमार उनके कहनेको स्वीकार कर राजासे मिले और राजाकी प्रार्थना करने पर इन सबको धनु-विद्यामें प्रवीण कर दिया फिर राजाने इस उपकारसे प्रसन्न हो अपनी कनकमाला नामकी कन्याका उनके साथ विवाह कर दिया। और फिर जीवंधर स्वामी अपने सालोंके प्रेमसे वहां ही रहने लगे।

यह सुनकर स्वामी गुणमालाकी व्यथाका सूचक पत्रको पढ़कर खेचरी गन्धर्वदत्ताके लिये ही खेदित हुए ।

फिर ससुरालके सब मनुष्य उनके छोटे भाई नन्दाढ्यको घेर कर उससे प्रेमालाप करने लगे ।

तत्पश्चात् एक दिन बहुतसे ग्वालिये राजाके अङ्गणमें आकर इस प्रकार चिल्लाने लगे कि वनमें हमारी गाऍं बहुतसे मनुष्योंने रोक ली हैं उनके आक्रंदन शब्दको सुनकर श्वसुरसे रोके हुए भी जीवंधर कुमार उनकी गौएँ छुड़ानेके लिये वनमें गये वहां जाकर क्या देखते हैं कि गौओंके पकड़नेवाले नन्दाढ्यके चले आनेपर गन्धर्वदत्ताके द्वारा भेजे हुए सब मेरे मित्र ही हैं उन सबने मालिककी तरह उनका सन्मान किया और जीवंधर स्वामीको मित्रवत् उन लोगोंके व्यवहार न करनेसे और अधिक सन्मान करनेसे उन पर सन्देह हुवा और उनसे एकान्तमें उसका कारण पूछा मित्रोंमेंसे प्रधान मित्र पद्मास्यने कहा " स्वामिन् ' आपके वियोगसे दुःखित हम लोग आपके समीप आते हुए कुछ समयके लिये दण्डकवनमें ठहरे वहां पर तपस्वियोंके आश्रमको देखनेके लिये इधर उधर घूमते फिरते हुए हम लोगोंने एक स्थान पर किसी एक पुण्य माताको देखा उन माताने हम लोगोंसे पूछा कि तुम कहांके रहने वाले हो और कहां जा रहे हो फिर हमने आपको छोड़कर सब वृत्तान्त माताजीसे कहा जिससे उन्हें दारुण दुःख हुआ फिर बारम्बार आश्वासन दिलाकर उनकी आज्ञा लेकर आपका वृत्तान्त जानकर आपकी सेवामें आये हैं " फिर जीवंधरस्वामी चिंतित [illegible]

मरी हुई समझनेसे अतीव दुखी हुए और माताके चरण कम-लोंके दर्शनोंके लिये अत्यन्त उत्कंठित हुए फिर क्या था श्वसुरादिककी आज्ञा ले और अपने सालोंको समझाकर वहांसे माताके दर्शनोंके लिये चल दिये दण्डक अरण्यमें आकर उन्होंने माताके दर्शन किये ।

माताने जन्मसे विछुडे हुए पुत्रको पाकर पहलेके सारे दुख भुला दिये ।

फिर जीवंधरस्वामीने अपनी माताको अपने मामाके समीप भेजकर स्वयं राजपुरीके लिये प्रस्थान किया । चारुवृत्तिसे वहांका वृत्तान्त जाननेके लिये जब कि वे इधर उधर घूम रहे थे एक स्थान परगेंदसेक्रीडा करती हुई एक जवान कन्याको देखकर उसे विवाह करनेकी इच्छासे उसके दरवाजेके अगाडीके छज्जेपर जा बैठे । इतनेमें उस कन्याके पिताने आकर उनसे कहा कि ज्योतिषियोंने मेरी कन्याके जन्म लग्नमें यह गणनाकी थी कि तुम्हारे घर पर जिसके आनेसे बहुत दिनोंके रक्खे हुए रत्न बिक जायेंगे वही इस कन्याका पति होगा आज आपके आनेपर मेरे सब रत्न बिक गये हैं इस लिये आप कृपा कर मेरी विमला नामकी कन्याके साथ विवाह करें ।

जीवंधरस्वामीने उसके आग्रहसे कन्याके साथ विवाह करनेकी स्वीकारता दे दी और विमलाके साथ विवाह कर विवाहके चिन्हों सहित अपने मित्रोंसे जा मिले ।
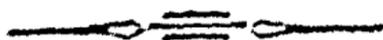
नवमां लम्ब।

फिर जीवंधरकुमारको विवाहके चिन्होंसे युक्त देखकर बुद्धिषेण नामके विदूषकने कहा कि औरोंसे उपेक्षा की हुई कन्याके साथ विहाह करनेमें मित्र आपका क्या बड़पन है इसको तो हर कोई विवाह सकता था हम आपको चतुर जब हीं समझेंगे । जब सुरमञ्जरीके साथ विवाह करलो यह सुन जीवंधर कुमार मित्रोंके पाससे चल दिये और यक्षके मंत्रके प्रभावसे बूढ़े ब्राह्मणका वेष बना कर किसी प्रकार सुरमञ्जरीके यहां पहुंचे सुरमञ्जरीने अत्यन्त वृद्ध ब्राह्मणको भूखा समझ कर भोजन कराया और आराम करनेके लिये एक सुकोमल शय्या दी फिर क्या था उस बूढेने मंत्रके प्रभावसे जगन्मोहन गाना प्रारम्भ किया जिसको सुन सुरमञ्जरी इसको अत्यन्त शक्तिशाली समझी और अपना कार्य अर्थात् इच्छित वरकी प्राप्तिका उपाय इससे पूछा तब उसने कहा कामदेवके मंदिरमें चल कर उसकी उपासना करो अवश्य तुम्हारा इच्छित वर तुमको वहां ही प्राप्त होगा फिर सुरमञ्जरी इसकी बात पर विश्वास कर इसके साथ कामदेवके मंदिरमें गई और जीवंधर कुमारको पतिभावसे पानेके लिये प्रार्थना की वहां पर पूर्वसे बैठे हुए बुद्धिसेनने कहा "तुम्हारा पति तुमको मिल गया" पीछे फिर कर क्या देखती है कि जीवंधर कुमार खडे हुए हंस रहे है। कुमारी "यह कामदेवके ही वचन है" ऐसा समझी और कुमारको देख कर अत्यन्त हर्षित हुई अंतमें जीवंधरके साथ उसका विवाह हो गया।
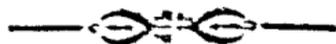
दशवां लम्ब।

इसके पश्चात् जीवंधर स्वामी जाकर माता पिता (सुनन्दा और गन्धोत्कट) से मिले नन्दाढ्य, गन्धर्वदत्ता और गुणमालाको अपने समागमसे प्रसन्न कर पूज्य गन्धोत्कटसे सलाह कर और उनकी अनुमति से विदेह देशकी धरणी तिलक नामकी नगरीके राजा अपने मामा गोविंदराजके समीप पहुंचे जीवंधर कुमारके वहां पहुंचने पर गोविंदराजने काष्ठाङ्गारका भेजा हुआ संदेशा मंत्रियोंके समक्ष सुनाया उस संदेशेमें काष्ठाङ्गारने यह लिखा था कि महाराज सत्यंधरकी मृत्यु एक मदोन्मत्त हस्तीके द्वारा हुई थी किंतु पापकर्मके उदयसे मैं ही उस अयशका भागी हुआ और यह बात समझदार राजा गण मिथ्या समझते ही हैं यदि आप भी इस बातको मिथ्या समझकर यहां आकर मुझसे मिलनेकी कृपा करेंगे तो मैं अवश्य सर्वथा निःशल्य हो जाऊंगा।

फिर गोविन्दराजने कहा कि शत्रु हमको अपने पास बुलाकर हमें भी अपने जालमें फंसाना चाहता है। अस्तु-हमको भी इसी बहानेसे चलकर उसे इस चालका मजा चखाना चाहिये यह निश्चय कर अपने राज्यमें इस बातका ढिंढोरा पिटवा दिया कि हमारी काष्ठाङ्गारके साथ मित्रता हो गई है।

पश्चात बहुतसी सेनाके साथ जीवंधर कुमार व गोविन्दराजने शुभ दिनमें भगवत पूजनादि मांगलीक पूजा विधानकर राजपुरीके लिये प्रस्थान किया फिर कुछ दिनोंके पश्चात् राजपुरीके समीप पहुचकर अपनी सेना ठहरा दी।

तब काष्ठाङ्गारने गोविन्दराजको अपने पास आए हुए सन्बहुतसी उत्तम २ वस्तुओंकी भेट भेजी गोविन्दराजने भी उत्तरमें ऐसा ही किया।

फिर गोविन्दराजने एक चन्द्रक यन्त्र बनाकर इस बातकी घोषणा कराई कि जो इन चन्द्रक यन्त्रको भेदन करेगा उसे मैं अपनी लक्ष्मणा नामकी कन्या व्याह दूंगा इस घोषणाको सुनकर सब धनुषधारी राजा लोग जिस मंडपमें वह यन्त्र रक्खा था वहां पर आये और फिर सब यन्त्रमें स्थित वराहोंको भेदन करनेकी कोशिश करने लगे किंतु कोई भी उनका छेदन करनेमें समर्थ नहीं हुआ अन्तमें जीवंधर स्वामीने अपने आलात चक्रके द्वारा क्रीडा मात्रसे उनको छेद दिया ऐसे उत्तम अवसर पर गोविन्द-राजने राजाओंके समक्ष जीवंधर स्वामीका परिचय देते हुए यह कहा कि यह सत्यंधर महाराजके पुत्र मेरे भानजे जीवंधरकुमार हैं।

यह सुनकर बहुतसे राजाओंने यह कहा कि हम लोग भी उनके आकारसे ऐसा ही अनुमान कर रहे थे यह सुनकर काष्टाङ्गारके हृदयमें अत्यन्त दारुण दुःख हुआ और मनमें विचार करने लगा कि मैंने व्यर्थ ही अपने नाशके लिये इसके मामाको यहा क्यों बुलाया और प्रथम मेरे सालेने इसको मार दियाथा फिर ये कहांसे आ गया और ये अपने मामाके बलको पाकर मेरे किस २ अनिष्टको नहीं करेगा इस प्रकार चिन्तामें व्याप्त काष्टाङ्गारको स्वामीके मित्रोंने लड़नेके लिये उत्तेजना की और फिर लडाईमें वह जीवंधर स्वामीके हाथसे मारा गया।

पश्चात् गोविन्दराजने अपनी पुत्रीके साथ जीवंधर स्वामीका व्याह कर दिया और फिर राजपुरीमें जाकर यक्षेन्द्र और अन्य राजाओंके साथ जीवंधर स्वामीका राज्याभिषेक किया।

राजा होनेके पश्चात् जीवंधर स्वामीने बारह वर्ष

पनस फलके समान है इस प्रकार संसारमें किसीकी संपत्ति स्थिर नहीं है इत्यादि बारह भावनाओंका बार २ चिन्तवन कर जिनेन्द्र मंदिरमें जाकर जिनदेवकी पूजा की पूजा करते समय वहांपर आये हुए चारण मुनिसे धर्मका उपदेश सुन इन्होंने अपनी पूर्वभव संबंधी भवावली पूछी।

पूछने पर महामुनिने कहा कि " तुम पूर्व जन्ममें धातुकी खंड द्वीपके भूमि तिलक नाम नगरके पवनवेग नाम राजाके यशोधर नामके पुत्र थे बालक अवस्थामे तुम किसी हंसके बच्चेको उसके स्थानसे क्रीड़ा करनेके लिये उठा लाये थे तब तुम्हारे पिताने तुमको उपदेश देकर धर्मका स्वरूप समझाया तब तुमको अपने कृत्य पर अत्यन्त पश्चाताप हुआ फिर अन्तमे तुमने अपनी आठ स्त्रियों सहित मुनि पद धारण कर लिया पश्चात् स्वर्गमें उत्पन्न हो वहांसे चयकर यहां पर तुम सत्यंधर महाराजके पुत्र हुए। इस लिये पूर्व जन्ममें तुमने हंसके बच्चेको उसके मांबाप तथा उसके स्थानसे अलग किया था और अपने घर लाकर उसे पिंजरेमें बंद किया था इस लिये उसके अलग करनेसे तुम्हें अपने माता पितासे वियोग और उसके बंधनसे बंधनका दुःख हुआ।

फिर जीवंधर स्वामी मुनिके यह वचन सुन कर राज्यसे विरक्त हो घर आकर गन्धर्वदत्ताके पुत्र सत्यंधरको राज्य दे अपनी आठ स्त्रियों और छोटेभाई नन्दाढ्य सहित वर्धमान स्वामीके समीप जाकर मुनिपद धारण कर लिया और अन्तमें फिर घोर तपश्चरणके द्वारा अष्ट कर्मोंका नाश कर मोक्षपद प्राप्त किया।

इतिशम् ? शुभं भूयात ! !

पनस फलके समान है इस प्रकार संसारमें किसीकी संपत्ति स्थिर नहीं है इत्यादि बारह भावनाओंका बार २ चिन्तवन कर जिनेन्द्र मंदिरमें जाकर जिनदेवकी पूजा की पूजा करते समय वहांपर आये हुए चारण मुनिसे धर्मका उपदेश सुन इन्होंने अपनी पूर्वभव संबंधी भवावली पूछी।

पूछने पर महामुनिने कहा कि "तुम पूर्व जन्ममें धातुकी खंड द्वीपके भूमि तिलक नाम नगरके पवनवेग नाम राजाके यशोधर नामके पुत्र थे बालक अवस्थामे तुम किसी हंसके बच्चेको उसके स्थानसे क्रीड़ा करनेके लिये उठा लाये थे तब तुम्हारे पिताने तुमको उपदेश देकर धर्मका स्वरूप समझाया तब तुमको अपने कृत्य पर अत्यन्त पश्चाताप हुआ फिर अन्तमे तुमने अपनी आठ स्त्रियों सहित मुनि पद धारण कर लिया पश्चात् स्वर्गमें उत्पन्न हो वहासे चयकर यहां पर तुम सत्यंधर महाराजके पुत्र हुए। इस लिये पूर्व जन्ममें तुमने हंसके बच्चेको उसके मांबाप तथा उसके स्थानसे अलग किया था और अपने घर लाकर उसे पिंजरेमें बंद किया था इस लिये उसके अलग करनेसे तुम्हें अपने माता पितासे वियोग और उसके बंधनसे बंधनका दु:ख हुआ।

फिर जीवंधर स्वामी मुनिके यह वचन सुन कर राज्यसे विरक्त हो घर आकर गन्धर्वदत्ताके पुत्र सत्यंधरको राज्य दे अपनी आठ स्त्रियों और छोटेभाई नन्दाढच सहित वर्धमान स्वामीके समीप जाकर मुनिपद धारण कर लिया और अन्तमें फिर घोर तपश्चरणके द्वारा अष्ट कर्मोंका नाश कर मोक्षपद प्राप्त किया।

इतिशम् ? शुभं भूयात ! !

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१४	१४	कानेन	कानने
१४	२१	मुक्तसे	मुञ्जसे
१५	६	कया	क्रिया
१५	१०	एतद् वक्तुमघि	एतद्वक्तुमपि
१५	१२	भवसे	भयसे
१५	२०	कुलन	कुलीन
१६	२	आत्मर्मि	आत्मर्मी
१६	४	धर्महत्तारव्य·	धर्मदत्तारव्य·
१६	८	प्रणिनां	प्राणिना
२०	१२	नाद्भतन्	नाद्भुतम्
२०	१३	जलबुन्दद	जलबुद्बुद
२२	९	असाह्याङ्गुलि	असाहाय्याङ्गुलिः
२३	१	विषयासक्ति दोष	विषयानग दोषः
२३	१९	त्याज्य	त्याज्या
२४	७	(तद्	(तत्त्याग)
२५	१०	इसके	इससे
२६	२२	करते हैं	मानते हैं
२७	१३	करभी	भी
२७	१२	कुर्वन्ति	करोति
२७	१७	कृन्यः	कृत्य
२८	६	मोहन्ति	मुह्यन्ति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१५६	२२	युक्त नही	युक्त
१९८	१	क्षत्रि	क्षत्री
१६६	१८	(असंमति न	असंमति
१६७	१०	(पश्य)	(पश्यन्)
१६८	२२	(समकल्पयतु)	(समकल्पयन्)
१६९	९	प्रकार०	प्रकार (आलोच्य)
१६९	२१	जाननेवाली०	जाननेवाली (सा)
१७२	१९	कृति	कृती
१७९	१७	पुरुषोक्ति	पुरुषोक्ता
१८१	३	तेननैव	तेनैव
१८१	१२	प्रातिकूल्पं	प्रातिकूल्यं
१८२	३	वीक्ष्य	प्रेक्ष्य
२८७	२	,,	दृष्ट्वा
१९२	१०	तत्त्रापि	तत्रापि
१९४	४	भी०	(अपि) भी
१९६	१	तद्गहन्	तद्गृहन्
१९६	१२	अम्यधु.	अभ्यधु
२०४	२१	नाय	नायन्
२०९	७	० पृथ्वीके	(धरण्या) पृथ्वीके
२०८	६	कर्दमें	कर्दमे
२०९	२३	डालेन	डालने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१५६	२२	शुक नहीं	शुक
१५८	१	क्षत्रि	क्षत्री
१६१	१८	(असंमति. न	असंमति
१६७	१०	(पश्य)	(पश्यन्)
१६८	२२	(समकल्पयत्)	(समकल्पयन्)
१६९	६	प्रकार०	प्रकार (आलोच्य)
१६९	२१	जाननेवाली०	जाननेवाली (सा)
१७६	१९	कृति	कृती
१७६	१७	पुरुषोक्ति	पुरुषोक्ता
१८१	३	तेननैव	तेनैव
१८१	१२	प्रातिकूल्यं	प्रातिकूल्यं
१८२	३	वीक्ष्य	प्रेक्ष्य
१८७	२	,,	दृष्ट्वा
१९२	१०	तत्रापि	तत्रापि
१९४	४	भी०	(अपि) भी
१९६	१	तद्ग्रहन्	तद्गृहन्
१९६	१२	अस्पष्ट	अस्पष्ट
२०४	२१	नद	नायन्
२०५	७	० हृदयोके	(धरण्या) हृदयोंके
२०८	६	कर्में	कर्में
२०९	२२	टाइन	टाइने

॥ श्री जिनाय नमः ॥

श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचित

सान्वयार्थ

क्षत्रचूडामणिः ।

प्रथमो लम्बः ।

श्रीपतिर्भगवान्पुष्याद्भक्तानां वः समीहितम् ।
यद्भक्तिः शुल्कतामेति मुक्तिकन्याकरग्रहे ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(श्री पति) अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मीके स्वामी (भगवान्) श्री जिनेन्द्र देव (वः युष्माकं) तुम (भक्तानां) भक्तोंके (समीहितम्) इच्छित कार्यको (पुष्यात्) पूर्ण करें। (यद्भक्ति) जिस जिनेन्द्र देवकी भक्ति (मुक्तिकन्याकरग्रहे) मुक्ति रूपी कन्याके विवाहमें (शुल्कताम्) द्रव्य स्वरूपताको (एति) प्राप्त करती है ॥१॥

संक्षेपेण प्रवक्ष्यामि चरितं जीवकोद्भवं ।
पीयूषं न हि निःशेषं पिबन्नेव सुखायते ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं वादीभसिंह सूरि (जीवकोद्भवम्) जीवंधर स्वामीसे उत्पन्न (चरितं) चरित्रको (संक्षेपेण) संक्षेपता

(प्रवक्ष्यामि) कहूंगा। अत्रनीतिः ! (हि) निश्चयसे (निःशेष) सबका-सत्र (पीयूषं) अमृतको (पिवन्) पीता हुआ (एव) ही पुरुष (सुखायते) सुखी होता है (इति न) ऐसा नहीं किन्तु (स्वल्पमपि पिवन् सुखायते) थोडा पीता हुआ भी सुखी होता है ॥ २ ॥

श्रेणिकप्रश्नमुद्दिश्य सुधर्मागणनायकः ।
यथोवाच मयाप्येतदुच्यते मोक्षलिप्सया ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(सुधर्म) सुधर्म नामके (गणनायक) गणधरने (श्रेणिकप्रश्नं) श्रेणिक राजाके प्रश्नको (उद्दिश्य) निमित्त पाकर (यथा) जैसे (उवाच) कहा है (तथा मयापि) वैसे मैं भी (मोक्षलिप्सया) मोक्षकी वाञ्छासे इस च रत्रको (उच्यते) कहता हूं ॥ ३ ॥

इहास्ति भारते खण्डे जम्बूद्वीपस्यमण्डने ।
मण्डलं हेमकोशाभं हेमाङ्गद समाह्वयम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ —(इह) इस संसारमें (जम्बूद्वीपस्य) जम्बूद्वीपका (मण्डने) भूषणस्वरूप (भारते) भारत (खण्डे) खण्डमें (हेमकोशाभ) स्वर्णके खजानेके सामान है आभा जिसकी ऐसा (हेमाङ्गदसमाह्वयम्) हेमाङ्गद नामका (मण्डल) देश (अस्ति) है ॥ ४ ॥

तत्र राजपुरी नाम राजधानी विराजते ।
राज राजपुरी स्रष्टौ स्वर्धुर्या मातृकायते ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ —(तत्र) उस देशमें (राजपुरी नाम) राजपुरी नामकी (राजधानी) राजाकी प्रधान नगरी (विराजते) सुशोभित है (), जो (स्रष्टु) ब्रह्माके (राज राजपुरी सृष्टौ) कुबेरकी नगरी

(अलङ्कारोंकी) रचनामें (मातृ कायने) माताके सदृश आचरण करती है ॥ ५ ॥

तस्यां सत्यंधरो नाम राजा भूत्सत्यवाङ्मयः ।
वृद्धसेवी विशेषज्ञो नित्योद्योगी निराग्रहः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ —(तस्य) उस नगरीमें (सत्यवाङ्मय.) सच बोलनेवाला (वृद्ध सेवी) वृद्धोंकी सेवा करनेवाला (विशेषज्ञ.) विशेष कार्योंका जाननेवाला (नित्योद्योगी) निरतर उद्योग करनेवाला (निराग्रह) हट न करनेवाला (सत्यधरो नाम) सत्यंधर नामका (राजा) राजा (अभूत) था ॥ ६ ॥

महिता महिषी तस्य विश्रुता विजयाख्यया ।
विजयाद्विश्वनारीणां पातिव्रत्यादिभिर्गुणैः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ —(तस्य) उस सत्यधर राजाकी (महिता) बडी (महिषी) प्रसिद्ध पट्टरानी (विश्व नारीणां) सम्पूर्ण स्त्रियोंको (पातिव्रत्यादिभि) पातिव्रतादि (गुणै) गुणोंके द्वारा (विजयात) जीतनेसे (विजयाख्यया) विजया नामसे (विश्रुता) प्रसिद्ध (आसीत्) थी ॥७॥

सर्वास्वन्तः पुरस्त्रीणां समाने राजवल्लभा ।
सैवासीत्तपसा[illegible] हि सुदुर्लभम् ॥८॥

अन्वयार्थ - (अन्तःपुर [illegible]) [illegible] स्त्रियों (समाने) [illegible] (सति) [illegible] (हि) [illegible]

(काचित्) कोई (न) नहीं अत्र नीति. (हि) निश्चयमें (सौभाग्य) अच्छाभाग्य (सुदुर्लभम्) बडा दुर्लभ है ॥ ८ ॥

निष्कंटकाधिराज्योऽयं राजा राज्ञीमनारतम् ।

रमयन्नान्यदज्ञासी त्प्राज्ञप्राग्रहरोऽपिसन् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(निष्कंटकाधिराज्यः) निष्कंटक है राज्य जिसका ऐसा (अयंराजा) यह राजा (प्राज्ञप्राग्रहर॰) विद्वानोंमें अग्रसर भी (सन्) होता हुआ (अनारतम्) निरंतर (राज्ञीं) रानीको (रमयन्) रमन करता हुआ (अन्यत्) और कुछ (न) नहीं (अज्ञासीत्) जानता था ॥ ९ ॥

विषयासक्तचित्तानां गुण॰ को वा न नश्यति ।

नवैदुष्यं न मनुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥१०॥

अन्वयार्थः—(विषयासक्तचित्तानां) विषयोंमें है आसक्त चित्त जिनका ऐसे पुरुषोंका (को वा) कौनसा (गुणः !) गुण (न) नहीं (नश्यति) नाश होता है (तेषु॰ उनमें (नवैदुष्यं) न पण्डितपना (न मानुष्यं) न मानुष्यपना (नाभिजात्यं) न कुलीनता (न सत्यवाक्) न सचाई रहती है ॥ १० ॥

पराधन जाद्दैन्यात्पैशून्यात्परिवादतः ।

भवात्किमन्येभ्यो न विभेति हि कामुकः ॥११॥

अन्वयार्थ—(कामुकः) कामी पुरुष (पराराधन जात्) सेवासे उत्पन्न (दैन्यात्) दीनतासे (पैशुन्यात्) चुगली (परिवादतः) निंदासे और (पराभवात्) तिरस्कारसे (न)

नहीं (विभेति) डरता है (अन्येभ्यो) और कार्योंसे (किं) क्या (भेष्यति) डरेगा ॥ ११ ॥

पाकं त्यागं विवेकं च वैभवं मानितामपि ।
कामार्ताः खलु मुञ्चन्ति किमन्यैः स्वञ्च जीवितम्॥१२॥

अन्वयार्थ —(कामार्ताः) कामसे पीड़ित पुरुष (पाकं) भोजन (त्यागं) दान (विवेकं) विवेक (वैभवं सम्पत्ति (च) और (मानितां) पूज्यता (अपि) भी (खलु) निश्चयसे (मुञ्चन्ति) छोड़ देते हैं (अन्यैः किं) और तो क्या (स्वञ्च जीवितम) अपने जीवनको (अपि) भी (मुञ्चन्ति) छोड़ देते हैं ॥१२॥

पुनरैच्छदयं दातुं काष्ठाङ्गाराय काश्यपीम् ।
अविचारितरम्यं हि रागान्धानां विचेष्टितम् ॥१३॥

अन्वयार्थ —(पुनः) पश्चात (अयं) इस राजाने (काष्ठाङ्गाराय) काष्ठाङ्गारको (काश्यपीम्) पृथ्वी (दातुं) देनेकी (ऐच्छत्) इच्छाकी अत्र नीति (हि) निश्चयसे (रागान्धानां) स्त्री प्रेमसे अन्धे पुरुषोंकी (विचेष्टितम) चेष्टाएं (अविचारितरम्य) विना विचारके सुन्दर (भवंति) होती हैं ॥१३॥

तावतातं समभ्येत्य मन्त्रिमुख्या अबूबुधन् ।
देवदेवैरपि ज्ञातं विज्ञाप्य श्रूयतामिदम् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ —(तावता) उसी समय (मन्त्रिमुख्याः) प्रधान मन्त्री (तं) उस राजाके (समभ्येत्य) समीप आकर (अबूबुधन्) समझाने लगे (हे देव) हे राजन् (देवैः) आपने (ज्ञातमपि) जानी

हृदयं च न विश्वास्यं राजभिः किं परो नरः ।
किन्तु विश्वस्तवद्दृश्यो नटायन्ते हि भूभुजः ॥१५॥

अन्वयार्थ —(राजभि) राजालोग (हृदयं) हृदयका (च) भी (न विश्वास्यं) विश्वास नहीं करते है (परोनरः किं विश्वास्य) दूसरे मनुष्यका तो क्या विश्वास करेंगे किन्तु (परो नरः) दूसरे मनुष्यको (विश्वस्तवत्) विश्वासीके सदृश (दृश्यः) देखना चाहिये अत्र नीति (हि) निश्चयसे (भूभुज) राजा लोग (नटायन्ते) नटके समान आचरण करते है ॥ १५ ॥

परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते ।
अनर्गलमतः सौख्य अपवर्गोप्यनुक्रमात् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ —(यदि) अगर (परस्परा विरोधेन) एक दूसरेके विरोधके विना (त्रिवर्ग) धर्म, अर्थ, काम यह तीन वर्ग (सेव्यते) सेवन किये जाते है (अत) तो (अनर्गलं) विना रुकावटके (सौख्यं) सुख (भवति) होता है और (अनुक्रमात) अनुक्रमसे (अपवर्ग) मोक्ष (अपि) भी (भवति) होता है ॥१६॥

ततस्त्याज्यौ न धर्मार्थौ राजभिः सुखकाम्यया ।
अदः काम्यति देवश्चेदमूलस्य कुतः सुखम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ (तत) इस लिये (राजभि) राजाओंको (सुखकाम्यया) सुख प्राप्त करनेकी वान्छासे (धर्मार्थौ) धर्म और अर्थको (न) नहीं (त्याज्यौ) छोड़ना चाहिये (चेद्देव) यदि आप (अदः) सुख (काम्यति) इच्छा करते है तो अत्र नीति (अमूलस्य सुखम) विना कारणके सुख कैसे हो सकता है ॥१७॥

नाशिनं भाविनं प्राप्यं प्राप्ते च फलसंततिम् ।
विचार्यैव विधातव्यमनुतापोऽन्यथा भवेत् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(नाशिनं) जो वस्तु नाश होनेवाली है और जो (भाविनं) आगे होनेवाली है उसे (प्राप्य) प्राप्त करना चाहिये (च) और (प्राप्ते) प्राप्त होनेपर (फलसंततिं) फलोंकी परंपरा (विचार्य) विचार करके (एव) ही (विधातव्य) कोई काम करना चाहिये (अन्यथा) इसके विपरीत करनेसे (अनुताप) पश्चात्ताप (भवेत्) करना पड़ता है ॥१८॥

इतिप्रबोधितोप्येषधुरिराज्ञां न्यवेशयत् ।
काष्टाङ्गारं महोमोहाद्बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—इति इस प्रकार (प्रबोधित) समझाया हुआ (अपि) भी (एष) यह राजा (अहो) खेद है ! कि (मोहात्) मोहसे (राज्ञां धुरि) राजाओंके अगाडी (काष्टाङ्गारं) काष्टाङ्गारको (न्यवेशयत्) बिठलाता भया अत्र नीति (बुद्धि) बुद्धि (कर्मानुसारिणी) कर्मके अनुसार (भवती) होती है ॥ १९ ॥

विषयान्ध्यविचारेण विरक्तानां नृपस्य तु ।
प्रकृष्यमाणरागेण कालो विलयमीयवान् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(तदा) उस समय (विरक्तानां) विषयोंमें विरक्त पुरुषोंका (काल) समय (विषयांधविचारेण) विषयोंमें अंध विचारसे अर्थात विषयोंमें बिना वाञ्छाके (विलय) विनाशताको (ईयवान्) प्राप्त होता था (तु) और (नृपस्य) राजाका (काल) समय (प्रकृष्यमाणरागेण) विषयोंमें अत्यंत रागसे (विलयं ईयवान्) बीतता था

पुत्रमित्र कलत्रादौ सत्यामपिचसंपदि ।
आत्मीयापाय शंका हि शुङ्क प्राणभृतांहृदि ॥२४॥

अन्वयार्थ —(हि) निश्चयसे (पुत्रमित्रकलत्रादौ) पुत्र, मित्र, स्त्री, आदिक (च) और (सपदि) धनादिक सम्पत्तिके (सत्यां) रहनेपर (अपि) भी (आत्मीयापाय शङ्का) अपने विनाशकी शङ्का (प्राणभृतां) प्राण धरियोंके (हृदी) हृदयमें (शङ्कु) कीलकी तरह दु.ख देती है ॥ २४ ॥

देवि दृष्टस्त्वया स्वप्ने वालः शोकः समौलिकः ।
आचष्टे सोदयंसूनु मष्टमालास्तु तद्वधू ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ —(देवि हे देवी (त्वया) तुम्हारेसे (स्वप्ने) स्वप्नमें (दृष्ट) देखा हुआ (समौलिक) मुकट सहित (वाल· शोक.) वाल अशोक वृक्ष (सोदयं) उदय सहित (सूनुं) पुत्रको (आचष्टे) कहता है (तु) और (अष्टमाला) स्वप्नमें देखी हुई आठ मालाएं (तद्वधू) पुत्रकी आठ स्त्रियें होगीं ऐसा कथन करती हैं ॥ २५ ॥

आर्यपुत्र ततः पूर्वं दृष्ट नष्टस्य किं फलं ।
कङ्केलेरिति चेद्देवि कथयत्येष किंचन ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ — हे आर्य पुत्र) हे आर्य पुत्र (तत. पूर्वं) उससे पहले (दृष्ट नष्टस्य) देखा और फिर नष्ट होगया ऐसे (कङ्केलेः) अशोक वृक्षका (किं) क्या (फल) फल है (देवि) हे देवी ! (इति चेत्) यदि ऐसा कहती हो तो (एष) यह भी (किंचन) कुछ (कथयति) कहता है ॥ २६ ॥

विपदः परिहाराय शोकः किं कल्पते नृणाम् ।
पावके नहि पातः स्यादातपक्लेशशान्तये ॥२०॥

अन्वयार्थ.—(विपद) विपत्तिके (परिहाराय) दूर करनेके लिये (नृणाम्) मनुष्योंके (किं, क्या (शोक) शोक (कल्पते) किया जाता है (हि) निश्चयसे (आतपक्लेश शान्तये) गर्मीके क्लेशकी शान्तिके लिये (किं) क्या (पावके) अग्निमे (पात स्यात्) पतन होता है (अपि तु न स्यात्) किन्तु नहीं होता है ॥ २० ॥

ततोऽव्यापत्प्रतीकारं धर्ममेवविनिश्चिनुः ।
प्रदीपैर्दीपते देशे नह्यस्ति तमसो गतिः ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ —(तत इसलिये तू निश्चयसे (व्यापत्प्रतीकारं, आपत्तिका उपाय (धर्म एव) धर्म ही (विनिश्चिनु) निश्चय कर क्योंकि (प्रदीपैः दीपने) दीपकोंसे प्रकाशित (देशे) देशमे (तमस) अन्धकारका (गति) गमन (नास्ति) नहीं होता ॥ २१ ॥

इत्यादि स्वामिवाक्येन लब्धाश्वासा यथा पुरम् ।
पत्यासाकमसौरेम दुःखचिन्ता हि तत्क्षणे ॥२२॥

अन्वयार्थ —(इत्यादि स्वामि वाक्येन) इस प्रकार स्वामीके वचनोंसे (लब्धाश्वासा) प्राप्त हुआ है विश्वास जिसको ऐसी (असौ) वह रानी (पत्यासाकम्) पतिके साथ (यथा पुरम्) पहलेकी तरह (रेमे) रमन करने लगी अत्र नीति (हि) निश्चयसे (तत्क्षणे, दुःखके समयमें ही (दुःख चिन्ता) दुःखकी चिन्ता (भवति होती है ॥ २२ ॥

स्वन्तं किं नु दुरन्तं वा किमुदर्कं वितर्क्यताम् ।
अतर्कितमिदं वृत्तं तर्कारूढं हि निश्चयम् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ.—(स्वन्तं) इसका अन्त अच्छा है (किन्नु) अथवा (दुरन्त) बुरा है (किमुदर्कं) इसका क्या परिणाम होगा (वितर्क्यताम्) इस विषयको तुम विचारो (इदं वृत्तं) यह वृत्तान्त अभीतक अतर्कित) विना विचार क्या हुआ है जब यह (तर्कारूढ) तर्क पर चढेगा तब (निश्चयम्) निश्चय (भवेत्) हो जावेगा ॥४२॥

जिह्हेमि वक्तुमप्येतदुक्तिर्देव भयादिति ।
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्धि पापिनाम् ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ —(अहं) मैं (एतत् वक्तुम् अपि) इसको कहनेके लिये भी (जिह्हेमि, लज्जा करता हूं किन्तु (देवभयात् इति उक्तिः) देवताके भयसे मैंने यह कहा है अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (पापिनाम्) पापियोंके (मनसि) मनमें (अन्यत् कुछ होता है और (वचसि अन्यत्) वचनसे कुछ कहते हैं और (कर्मणि अन्यत्) कायसे कुछ ही करते हैं ॥४३॥

तद्वाक्याद्वाच्यतो वंश्या यमिनः प्राणिहिंसनात् ।
क्षुद्रा दुर्भिक्षतश्चैव सन्त्रासः सर्व हि तत्रसुः ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ —(तद्वाक्यात्) काष्ठाङ्गारके इन वचनों से (वंश्या) उत्तम कुल के पुरुष तो (वाच्यत) निन्दासे (यमिनः) संयमी पुरुष (प्राणिहिंसनात्) जीवोंकी हिंसासे (क्षुद्राः) प्रकृतिके पुरुष दुर्भिक्षत) अकालसे (तत्रसुः) डरे (एवं) इस न

रक्षन्त्येवात्र राजानो देवान्देहभृतोऽपि च।
देवास्तु नात्मनोप्येवं राजा हि परदेवता ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ.-(अत्र) इस लोकमें (राजान) राजा लोग (देवान्) देव (च) और (देहभृतोऽपि) देह धारी दोनोंकी (एव) ही (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं। परन्तु (देवा) देवता (आत्मनोऽपि) आपनी आत्माकी भी (न) नहीं (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं (एव) इस लिये (राजा हि पर देवता) राजा ही निश्चयसे उत्कृष्ट देवता है ॥

किंचात्र दैवत हन्ति दैवतद्रोहिण जनम्।
राजा राजद्रुहां वंश वंश्यानन्यच्च तत्क्षणे ॥४९॥

अन्वयार्थ — किंच अत्र, और लोकमें (दैवत) देवता (दैवत द्रोहिण जनम्) अपनेसे द्रोह करनेवाले मनुष्यको (हन्ति) मारता है परन्तु (राजा) राजा (राजद्रुहां) राजद्रोहियोंका (वंश) कुल और (वंश्यान्) वंशके मनुष्योंको (च) और (अन्यत्) उसकी धन सम्पत्त्यादिकको भी (तत्क्षणे) उसी समय (हन्ति) नाश कर देता है॥४९॥

अर्थिनां जीवनोपायमपायं चाभिभाविनाम्।
कुर्वन्तः खलु राजानः सेव्या हव्यवहा यथा ॥५०॥

अन्वयार्थ —(अर्थिनां) अर्थीजनोंके (जीवनोपाय) जीवनके उपाय (च) और (अभिभाविनाम्) प्रजाको दुःख देनेवाले शत्रुओंका (अपायं) नाश (कुर्वन्त) करनेवाले (राजान) राजा लोग (खलु) निश्चयसे (हव्यवहायथा) हवनकी अग्निकी तरह (सेव्या) आदरसे सेवा करने योग्य है ॥५०॥

इति धर्मवचोऽप्यासीन्मर्मभित्तीव्र कर्मणः।
पित्तज्वरवतः क्षीरं तिक्तमेव हि भासते ॥ ५१ ॥

(सर्वेसम्याः तत्रसु) सम्पूर्ण सभ्य पुरुष भय युक्त होते भये ॥४४॥

आत्माघ्नं धर्मदत्ताख्यः सचिवो वाचमूचिवान् ।
गाढा हि स्वामिभक्तिः स्यादात्मप्राणानपेक्षणी॥४५॥

अन्वयार्थ —उस समय (धर्मदत्ताख्य) धर्मदत्त नामके (सचिवः) मन्त्रीने (आत्मघ्नीं) अपने आपको नाश करनेवाली (वाचं) वाणी (उचिवान्) कही अत्र नीति (हि) निश्चयसे (गाढास्वामिभक्ति) अतिशय स्वामीकी भक्ति (आत्मप्राणानपेक्षणी) अपने प्राणोंकी अपेक्षा नहीं करनेवाली (स्यात्) होती है ॥४५॥

राजानः प्राणिनां प्राणास्तेषु सत्स्वेव जीवनात् ।
तत्तत्र सदसत्कृत्यं हि लोक एव कृतं भवेत् ॥४६॥

अन्वयार्थ —उसने कहा (राजानः) राजा लोग (प्राणिनां) प्राणियोंके (प्राणा) प्राण हैं (तेपु सत्सु) उनके रहने पर ही (जीवनात) प्राणियोंका जीवन होता है (तत्) इसलिये (तत्र) राजामें किया हुआ (सदसत्कृत्य) अच्छा बुरा कर्म (लोक एव कृतं भवेत्) प्रजाके साथ ही किया हुआ होता है ॥ ४६ ॥

एवं राजद्रुहांहन्त सर्वे द्रोहित्व संभवे ।
राजध्रुगेव किं न स्यात् पञ्चपातकभाजनम् ॥४७॥

अन्वयार्थ —(एवम्) इस प्रकार (राजद्रुहा) राजद्रोही पुरुषोंके (सर्वे द्रोहित्व संभवे) सम्पूर्ण पुरुषोंका द्रोहित्वपना संभव होने पर (हन्त) खेद है (किं) क्या (राज ध्रुग् एव) राजद्रोही ही (पञ्चपातक भाजनम्) पंच महा पापोंका करनेवाला (नस्यात्) नहीं होतो है (किन्तु स्यादेव) किन्तु अवश्य ही होता है ॥४७॥

रक्षन्त्येवात्र राजानो देवान्देहभृतोऽपि च ।
देवास्तु नात्मनोप्येवं राजा हि परदेवता ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ —(अत्र) इस लोकमें (राजानः) राजा लोग (देवान्) देव (च) और (देहभृतोऽपि) देह धारी दोनोंकी (एव) ही (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं। परन्तु (देवा) देवता (आत्मनोऽपि) आपनी आत्माकी भी (न) नही (रक्षन्ति) रक्षा करते है (एव) इस लिये (राजा हि पर देवता) राजा ही निश्चयसे उत्कृष्ट देवता है ॥

किंचात्र दैवतं हन्ति दैवतद्रोहिणं जनम् ।
राजा राजद्रुहां वंशं वंश्यानन्यच्च तत्क्षणे ॥४९॥

अन्वयार्थ —(किंच अत्र) और लोकमे (दैवतं) देवता (दैवत् द्रोहिण जनम्) अपनेसे द्रोह करनेवाले मनुष्यको (हन्ति) मारता है परन्तु (राजा) राजा (राजद्रुहां) राजद्रोहियोंका (वंश) कुल और (वंश्यान्) वंशके मनुष्योंको (च) और (अन्यत्) उसकी धन सम्पत्त्यादिकको भी (तत्क्षणे) उसी समय (हन्ति) नाश कर देता है॥४९॥

अर्थिनां जीवनोपायमपायं चाभिभाविनाम् ।
कुर्वन्तः खलु राजानः सेव्या हव्यवहा यथा ॥५०॥

अन्वयार्थ —(अर्थिना) अर्थीजनोंके (जीवनोपाय) जीवनके उपाय (च) और (अभिभाविनाम्) प्रजाको दु.ख देनेवाले शत्रुओंका (अपाय) नाश (कुर्वन्त.) करनेवाले (राजान.) राजा लोग (खलु) निश्चयसे (हव्यवहायथा) हवनकी अग्निकी तरह (सेव्या) आदरसे सेवा करने योग्य है ॥५०॥

इति धर्मवचोऽप्यासीन्मर्मभित्कीव कर्मणः ।
पित्तज्वरवतः क्षीरं तिक्तमेव हि भासते ॥ ५१ ॥

काष्टाङ्गारने (राजान) राजाको (हन्तु) मारनेके लिये (बलं) सेना (प्राहैषीत्) भेजी अत्र नीति (हि) निश्चयसे (आस्यगत) मुखमें गया हुआ (पय) दुग्ध (पान निष्ठीवनद्वये) पीने और वमन क्रिया द्वयमें (शक्य) समर्थ (भवति) होता है ॥९४॥

दौवारिकमुखादेतदुपलभ्य रुषा नृपः।
उदतिष्ठत् संग्रामे न हि तिष्ठति राजसम् ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ —(नृप) राजाने (दौवारिक मुखात्) द्वारपालके मुखसे (एतद्) यह (उपलभ्य) जानकर (रुषा) क्रोधसे (संग्रामे उदतिष्ठत्) युद्धके निमित्त चेष्टा की अत्र नीति (हि) निश्चयसे (राजसम् न तिष्ठति) राजसी भाव स्थिर नहीं रहता (अपमान होने पर प्रगट हो ही जाता है) ॥९५॥

तावतार्धासनाद्भ्रष्टां नष्टासुं गर्भिणीं प्रियाम्।
दृष्ट्वा पुनर्न्यवर्तिष्ट स्त्रीष्ववज्ञा हि दुःसहा ॥९६॥

अन्वयार्थ —परन्तु (तावता) उसी समय राजा (अर्धासनात्) अर्धासनसे (भ्रष्टा) गिरि हुई अतएव (नष्टासु) गतप्राणकी तरह (गर्भिणी प्रियाम्) गर्भवती अपनी प्यारी स्त्रीको (दृष्ट्वा) देखकर (पुन) फिर (न्यवर्तिष्ट) उलटा लौट आया अत्र नीति (हि) निश्चयसे (स्त्रीष्ववज्ञा) स्त्रियोंके विषयमें अनादर व अपमान (दु सहा) नही सहा जा सकता ॥९६॥

अबोधयच्च तां पत्नीं लब्धबोधो महीपतिः।
तत्त्वज्ञानं हि जागर्ति विदुषामार्तिसंभवे ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ —(महीपति) पृथ्वीपति राजाने (लब्धबोध सन्) स्वयं सचेत होकर (तां पत्नीं) उस अपनी स्त्रीको (अब

अन्वयार्थ —(संयुक्तानां) संयोगी पदार्थोंका (नियोगतः) अवश्य ही (वियोग.) वियोग (भविता) होता है। (अन्यैः किं) और तो क्या ? (अङ्गत) इस शरीरसे (अङ्गी अपि) आत्मा भी (नि. सगो निवर्तते) शरीरको छोड़कर चला जाता है ॥ ९० ॥

अनादौ सति संसारे केन कस्य न बन्धुता ।
सर्वथा शत्रुभावश्च सर्वमेतद्धि कल्पना ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ —(संसारे) संसारके (अनादौ सति) अनादि होनेपर (कस्य) किसकी (केन) किसके साथ (बन्धुता शत्रुता च न) मित्रता और शत्रुता नहीं है अतएव किसीको (सर्वथा शत्रु भाव मित्रभावश्च) सर्वथा शत्रु व मित्र समझना (सर्वमेतद्कल्पना) ये सब कल्पना मात्र ही है ॥ ९१ ॥

इति धर्म्यं वचस्तस्या लेभे नैव पदं हृदि ।
दग्धभूम्युप्तबीजस्य न ह्यङ्कुरसमर्थता ॥९२॥

अन्वयार्थ —(इति) इस प्रकार (धर्म्यंवच) नीति युक्त वचनोंने (तस्याः) उस विजया रानीके (हृदि) हृदयमें (पदं) स्थानको (नैव) नहीं (लेभे) प्राप्त किया अत्र नीति (हि) निश्चयसे (दग्धभूम्युप्त बीजस्य) जली हुई पृथ्वीमें बोए हुए बीजके अन्दर (अंकुर समर्थता न भवति) अंकुर पैदा होनेकी शक्ति नहीं होती है ॥९२॥

अयं त्वापन्नसत्त्वां तामारोप्य शिखियन्त्रकम् ।
स्वयं तद्भ्रामयामास हन्त क्रूरतमो विधिः ॥९३॥

अन्वयार्थ —(तु) तदनन्तर (अयं) राजा (आपन्न[illegible] ता) गर्भवती उस रानीको (शिखियन्त्रकम्) मयूर यन्त्रमें [illegible] बिठला करके (हन्त) खेद है ? (स्वयं) अपने आप (

अन्वयार्थ —(संयुक्तानां) संयोगी पदार्थोंका (नियोगतः) अवश्य ही (वियोगः) वियोग (भविता) होता है। (अन्यैः किं) और तो क्या? (अङ्गत) इस शरीरसे (अङ्गी अपि) आत्मा भी (निःसगो निर्वर्तते) शरीरको छोड़कर चला जाता है ॥ ६० ॥

अनादौ सति संसारे केन कस्य न बन्धुता ।
सर्वथा शत्रुभावश्च सर्वमेतद्धि कल्पना ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ —(संसारे) संसारके (अनादौ सति) अनादि होनेपर (कस्य) किसकी (केन) किसके साथ (बन्धुता शत्रुता च न) मित्रता और शत्रुता नहीं है अतएव किसीको (सर्वथा शत्रुभाव मित्रभावश्च) सर्वथा शत्रु व मित्र मनजना (सर्वमेतद्कल्पना) ये सब कल्पना मात्र ही है ॥ ६१ ॥

इति धर्म्यं वचस्तस्या लेभे नैव पदं हृदि ।
दग्धभूम्युप्तबीजस्य न ह्यङ्कुरसमर्थता ॥६२॥

अन्वयार्थ —(इति) इस प्रकार (धर्म्यवच) नीति युक्त वचनोंने (तस्याः) उस विजया रानीके (हृदि) हृदयमें (पदं) स्थानको (नैव) नहीं (लेभे) प्राप्त किया अत्र नीति (हि) निश्चयसे (दग्धभूम्युप्त बीजस्य) जली हुई पृथ्वीमें बोए हुए बीजके अन्दर (अंकुर समर्थता न भवति) अंकुर पैदा होनेकी शक्ति नहीं होती है ॥६२॥

अयं त्वापन्नसत्त्वां तामारोप्य शिखियन्त्रकम् ।
स्वयं तद्भ्रामयामास हन्त क्रूरतमो विधिः ॥६३॥

अन्वयार्थ —(तु) तदनन्तर (अयं) राजा (आपन्नसत्त्वां तां) गर्भवती उस रानीको (शिखियन्त्रकम्) मयूर यन्त्रमें (आरोप्य बिठला करके (हन्त) खेद है ? (स्वयं) अपने आप (तद्) उ.

अन्वयार्थ —(संयुक्तानां) संयोगी पदार्थोंका (नियोगत.) अवश्य ही (वियोग) वियोग (भविता) होता है। (अन्यै किं) और तो क्या ' (अङ्गत) इस शरीरसे (अङ्गी अपि) आत्मा भी (नि. संगो निवर्त्तते) शरीरको छोडकर चला जाता है ॥ ६० ॥

अनादौ सति संसारे केन कस्य न बन्धुता ।
सर्वथा शत्रुभावश्च सर्वमेतद्धि कल्पना ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ —(संसारे) संसारके (अनादौ सति) अनादि होनेपर (कस्य) किसकी (केन) किसके साथ (बन्धुता शत्रुता च न) मित्रता और शत्रुता नहीं है अतएव किसीको (सर्वथा शत्रु भाव. मित्रभावश्च) सर्वथा शत्रु व मित्र समझना (सर्वमेतद्कल्पना) ये सब कल्पना मात्र ही है ॥ ६१ ॥

इति धर्म्यं वचस्तस्या लेभे नैव पदं हृदि ।
दग्धभूम्युप्तबीजस्य न ह्यङ्कुरसमर्थता ॥६२॥

अन्वयार्थ —(इति) इस प्रकार (धर्म्यंवच) नीति युक्त वचनोंने (तस्याः) उस विजया रानीके (हृदि) हृदयमें (पदं) स्थानको (नैव) नहीं (लेभे) प्राप्त किया अब नीति (हि) निश्चयसे (दग्धभूम्युप्त बीजस्य) जली हुई पृथ्वीमें बोए हुए बीजके अन्दर (अंकुर समर्थता न भवति) अंकुर पैदा होनेकी शक्ति नहीं होती है ॥६२॥

अथ त्वापन्नसत्त्वां तामारोप्य शिखियन्त्रकम् ।
स्वयं तद्भ्रामयामास हन्त क्रूरतमो विधिः ॥६३॥

अन्वयार्थ —(तु) तदनन्तर (अयं) राजा (आपन्नसत्वां तां) गर्भवती उस रानीको (शिखियन्त्रकम्) मयूर यन्त्रमें (आरोप्य) बिठला करके (हन्त) खेद है ? (स्वयं) अपने आप (तद्) उ

(भ्रामयामास) घुमाता भया (अत्र नीति) (विधि क्रूरतमः) पूर्वोपार्जित कर्म अत्यन्त कठोर होते हैं ॥ तात्पर्य कर्म रंक राजाका विचार नहीं करता सबको एकसा ही फल देता है ॥ ६३ ॥

वियतास्मिन्गते योद्धुं स मोहादुपचक्रमे ।
न ह्यङ्गुलिरसाहाय्या स्वयं शब्दायतेतराम् ॥६४॥

अन्वयार्थः—(अस्मिन्) इस यन्त्रके (वियता गते) आकाश मार्गसे ऊपर चले जाने पर (स) उस राजाने (मोहात्) मोहके वशसे (योद्धु) लड़ना (उपचक्रमे) प्रारम्भ किया। अत्र नीति (हि) निश्चयसे (असाह्यांगुलिः स्वयं) अकेली उंगली अपने आप (नशब्दायते तराम्) शब्दको नहीं करती है अर्थात् विना निमित्तके लड़ाई नहीं होती है ॥ ६४ ॥

अथ युद्ध्वा चिरं योद्धा मुधा प्राणिवधेन किम् ।
इत्यूहेन विरक्तोऽभूद्गत्यधीनं हि मानसम् ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थ·—(अथ) तदनन्तर (योद्धा) योधा राजा (चिरयुद्ध्वा) बहुत काल युद्ध करके (मुधा) निष्प्रयोजन (प्राणिवधेन) प्राणियोंकी हिंसासे (कि) क्या फल है ? (इति ऊहेन) ऐसा विचार करके (विरक्तोऽभूत) लड़ाईसे उदासीन हो गया अत्र नीति (हि) निश्चयसे (गत्यधीनं मानसम्) गतिके अनुकूल ही मनके भाव होते हैं। अर्थात् जिसको जिस गतिमें जाना होता है उसके मृत्युके समय वैसे ही भाव हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

...षोऽय त्वथैव विषयीकृतः ।
...वा विषप्रख्ये मुञ्चात्मन्विषये स्पृहाम् ॥६६॥

...र्थः—(हे आत्मन्) हे आत्मा (अयं) इस (विषयः

सक्ति दोष) विषयासक्ति दोषको (त्वया एव) तूने ही (विषयी कृतः) प्रत्यक्ष कर लिया है अतएव (सांप्रत वा) अब तो (विष प्रख्ये) विषके समान (विषये) इन्द्रियोंके विषयमें (स्पृहां) इच्छाको मुञ्च छोड़ दे ॥ ६६ ॥

भुक्तपूर्वमिदं सर्वं त्वयात्मन्भुज्यते ततः।
उच्छिष्टं त्यज्यतां राज्यमनन्ता ह्यसुभृद्भवाः ॥६७॥

अन्वयार्थ.—और (हे आत्मन्) हे आत्मा (इदं सर्वं) यह सब (भुक्त पूर्वं) पूर्व जन्ममें भोगे हुएको (त्वया) तू (भुज्यते) भोगता है (अतः) इस लिये (उच्छिष्ट राज्य) उच्छिष्ट राज्यको (त्यज्यता) त्याग दे अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (असुभृद्भवा) जीवोंके भव (अनन्ताः) अनन्त (सन्ति) होते हैं। तात्पर्य—अनन्त जन्मोंमेंसे बहुतसे जन्मोंमें इस जीवने राजसुख भोगा है इसलिये वह उच्छिष्टके समान है ॥ ६७ ॥

अवश्यं यदि नश्यन्ति स्थित्वापि विषयाश्चिरम्।
स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यान्मुक्तिः संसृतिरन्यथा॥६८॥

अन्वयार्थ—(यदि) अगर (विषया) इन्द्रियोंके विषय (चिरं) बहुत काल तक (स्थित्वापि) स्थिर रहकर भी (अवश्यं) अवश्य (नश्यति) नाशको प्राप्त हो जाते हैं तो (स्वयं) स्वयं ही (त्याज्यः) छोड़ देने चाहिये (तथाहि) ऐसा करने पर (मुक्तिः स्यात्) आत्मा कर्म बन्धनसे मुक्त होती है (छूट जाती है) (अन्यथा) इसके विपरीत करनेसे (संसृतिरेव स्यात्) संसार होता है ॥ ६८ ॥

(जनपदा) देशनिवासी (निर्वेदं) उदास और विरक्त पनेको (प्रतिपेदिरे) प्राप्त हुए १ अत्र नीति (हि) निश्चयसे (अभिनवा) नई दुरंतको (पीडा) पीडा (नृणा। मनुष्योंको (प्राय वैराग्य कारणम्) प्राय वैराग्यका कारण होती है अर्थात् यह एक नियमसा है कि संसारी लोग नई अच्छी या बुरी बातोंसे शीघ्र ही सुख और दु खका अनुभवन किया करते हैं ॥ ७१ ॥

अधिस्त्रि रागः क्रूरोऽयं राज्य प्राज्यमसूनपि ।
तद्वञ्चिता हि मुञ्चन्ति किं न मुञ्चन्ति रागिणः ॥७२॥

अन्वयार्थ —(अयं) यह (अधिस्त्रिराग) स्त्री विषयक प्रेम वा अनुराग (क्रूर) बडा क्रूर वा कठोर है (तद्वञ्चिता) उसके ठगाये हुए मनुष्य (प्राज्य राज्यं) बडे भारी राज्यको और (असूनपि) प्राणोंको भी (मुञ्चन्ति) छोड देते हैं ? सच है (रागिण) रागी पुरुष (कि न) क्या नहीं (मुञ्चन्ति) छोड देते हैं अर्थात् (सर्वं मुञ्चन्ति) सबको छोड देते हैं ॥ ७२ ॥

नारीजघनरन्ध्रस्थविण्मूत्रमयचर्मणा ।
वराह इव विड्भक्षी हन्त मूढः सुखायते ॥७३॥

अन्वयार्थ —(हन्त) खेद है ? (मूढ) मूर्ख जन (नारी जघन रंध्रस्थ विण्मूत्रमय चर्मणा) स्त्रियोंकी जंघाओंके छिद्रमें स्थित मलमूत्रसे भरे हुए चमड़ेसे (विड्भक्षी) विष्टा खानेवाले (वराह इव) शूकरकी तरह (सुखायते) सुखी होते हैं अर्थात् विषयासक्त मूर्ख जन निन्दनीक विषय भोगादिकमें भी आनन्द करते हैं ॥ ७३

किं कीदृशं कियत्केति विचारे सति दुःसहम् ।
अविचारितरम्यं हि रामासंपर्कजं सुखम् ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थ —वह सुख (किं) क्या है (कीदृशं) कैसा है (कियत्) कितना है (क्व) कहां है (इति विचारे सति) ऐसा विचार करने पर (दुःसहम्) दुःसह हो जाता है अर्थात् (रामा संपर्कज) स्त्रीके संगसे उत्पन्न (सुखं) सुख (अविचारितरम्य) विना विचारके ही सुन्दर है ॥ ७४ ॥

निवारितापयकृत्ये स्यान्निष्फला दुष्फला च धीः ।
कृत्ये तु नापि यत्नेन कोऽत्र हेतुर्निरूप्यताम् ॥७५॥

अन्वयार्थ—(अकृत्ये) बुरे काममें (निवारितापि) निवारण किये जाने पर भी (धी) बुद्धि (निष्फला) फल रहित (च) और (दुष्फला) बुरे फल वाली (स्यात्) प्रवृत्त होती है (तु) किन्तु (कृत्ये) अच्छे काममें (प्रयत्नेन अपि) प्रयत्न करनेसे भी (न) नहीं (प्रवर्तते) प्रवृत्त होती है। (अत्र हेतु निरूप्यता) कहो इसमें क्या हेतु है ?

अर्थात् बुरे कामोंमें आत्माकी प्रवृति विना उपदेशके भी होजाती है किन्तु सत्कार्यमें सदुपदेश मिलनेपर भी वैसी प्रवृति नहीं होती ॥

निश्चित्याप्यघहेतुत्वं दुश्चित्तानां निवारणे ।
येनात्मन्निपुणो नासि तद्धि दुष्कर्मवैभवम् ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ —(हे आत्मन्) हे आत्मा (दुश्चित्तानां) बुरे मानसीक विचारोंको (अघहेतुत्वं) पापका कारण (निश्चित्य) निश्चय

करके (अपि) भी (येन) जिस कारणसे (त्व) तू (निवारणे) निवारण करनेमे (निपुण) समर्थ (नासि) नहीं होता है (हि) निश्चयसे (तत् दुष्कर्म वैभवम्) यह बुरे कर्मोंका ही प्रभाव है।

अर्थात् दुर्व्यसनोंका फल बुरा होता है ऐसा समझने पर भी आत्मा इनको छोड़नेमें असमर्थ दुष्कर्मके प्रभावसे ही होता है ॥ ७६ ॥

हेये स्वयं सती बुद्धिर्यत्नेनाप्यसती शुभे ।
तद्धेतुकर्म तद्वन्तमात्मानमपि साधयेत् ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ—(बुद्धि) बुद्धि (हेये) बुरे कार्यमें (स्वयं सती) अपने आप ही लग जाती है किन्तु (शुभेयत्नेनापि असती) अच्छे कामोंमें प्रयत्न करने पर भी प्रवृत्त नहीं होती (तद्धेतु) इस प्रवृत्तिसे बंधनेवाला (कर्म) कर्म ही (आत्मानं अपि) आत्माको कर भी (तद्वन्तं कुर्वन्ति) वैसा ही कर देता है ॥७७॥

कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः किंप्राप्यः किंनिमित्तकः ।
इत्यूहः प्रत्यहं नो चेदस्थाने हि मतिर्भवेत् ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ—(अहं क) मैं कौन हूं? (कीदृग्गुण) मुझमें कैसे गुण हैं? (क्वत्य) मैं कहांसे आया हूं? (किं प्राप्य) क्या प्राप्त कर सकता हूं? (किं निमित्तक) और मैं किस निमित्तके लिये हूं? (चेत्) यदि (इति ऊहः) इस प्रकार विचार (प्रत्यहं न स्यात्) प्रतिदिन नहीं होवे तो (हि) निश्चयसे (मति) मनुष्यों की बुद्धि (अस्थाने भवेत्) अनुचित स्थानमें प्रवृत्त हो जाती है ॥ ७८ ॥

मुह्यन्ति देहिनो मोहान्मोहनीयेन कर्मणा ।
निर्मिताशेषकर्मणा धर्मवैरिणा ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ — (निर्मिताशेषकर्मणा) सम्पूर्ण कर्मोंका निर्माण करनेवाले (धर्मवैरिणा) धर्मके शत्रु (मोहनीयेन कर्मणा) मोहनीय कर्मसे (निर्मिताः) उत्पन्न (मोहात्) मोहसे (देहिनः) प्राणी (मुह्यन्ति) अविवेकको प्राप्त होते हैं ॥

अर्थात् यह मोहनीय कर्मका ही प्रभाव है कि आत्मा अपने स्वभावको भूलकर पर पदार्थमें लुभा रहा है ॥७९॥

किं नु कर्तुं त्वयारब्धं किं नु वा क्रियतेऽधुना ।
आत्मन्नारब्धमुत्सृज्य हन्त बाह्येन मुह्यसि ॥ ८० ॥

अन्वयार्थ —(हे आत्मन्) हे आत्मा (त्वया) तूने (किंनु कर्तुं आरब्धं) क्या तो करनेके लिये आरंभ किया था और (अधुना किं नु क्रियते) अब तू क्या कर रहा है ? (हन्त) बड़े खेदकी बात है कि (आरब्ध उत्सृज्य) अपने प्रारंभ किये हुएको छोडकर (बाह्येन) बाह्य पदार्थोंसे (मुह्यसि) मोहको प्राप्त हो रहा है ॥

अर्थात्—कर्तव्यको छोडकर अकृत्यमें प्रवृत्ति करना अनुचित है ॥८०॥

इदमिष्टमनिष्टं वेत्यात्मन्संकल्पयन्मुधा ।
किं नु मोमुह्यसे बाह्ये स्वस्वान्तं स्ववशीकुरु ॥८१॥

अन्वयार्थ·—(हे आत्मन्) हे आत्मा (इदं इष्टं वा अनिष्टं) यह इष्ट है अथवा अनिष्ट है (इति) इस प्रकार (मुधा) वृथा (संकल्पयन्) संकल्प करता हुआ (त्वं) तू (बाह्ये) बाह्य पदार्थोंमें (किंनु) क्यों (मोमुह्यसे) मुग्ध हो रहा है इस लिये (स्वस्वा-

न्तं स्ववशी कुरु) अपने हृदयको अपने वशमें कर ॥

लोकद्वयाहितोत्पादि हन्त स्वान्तमशान्तिमत ।
न द्वेक्षि द्वेक्षि ते मौढ्यादन्यं संकल्प्य विद्विषम् ॥८२॥

अन्वयार्थ.—(हन्त) बड़े खेदकी बात है (त्वं) तू (लोकद्वया हितोत्पादि) इस लोक और परलोकमें अहित (दुःख)को उत्पन्न करने वाली (अशान्तिमत्) अशान्तिमय (ते स्वान्तं) अपने हृदयको (नद्वेक्षि) द्वेष नहीं करता है किन्तु (मौढ्यात्) मूर्खतासे (अन्य) दूसरोंको (विद्विषन् सकल्प्य) शत्रु, समझ कर (द्वेक्षि) द्वेष करता है ॥ ८२

अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोष प्रपश्यता ।
कः समः खलु मुक्तोऽयं युक्तः कायेन चेदपि ॥८३॥

अन्वयार्थ —(अन्यदीय दोष इव) दूसरोंके दोषोंके सदृश (आत्मीयं) अपने (अपि) भी (दोषं प्रपश्यता) दोषोंको देखने वाले पुरुषके (सम) समान (अयं) यह (क) कौन (खलु) निश्चयसे (कायेन युक्त चेदपि) कायसे युक्त होता हुआ भी (मुक्त) जीवन मुक्त है ॥

अर्थात् दूसरोंके दोषोंकी तरह अपने दोषोंको देखनेवाला ही सत्पुरुष कहलाता है ॥ ८३ ॥

इत्यावूहपरे लोके केकी तु वियता गतः ।
पातयमास राज्ञीं तां तत्पुरप्रेतवेश्मनि ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ.—उस समय (इत्याद्यूहपरे) इस प्रकारके विचारमें मग्न (लोके) वहाके लोगोंके होनेपर (वियता गतः) आकाशमें गये हुए (केकी) यन्त्रने (तां राज्ञीं) उस विजया रानीको (...

(आदधानः) उठाकर (जीव) जीव (इति आशिषम्) ऐसी आशीर्वाद (आकर्ण्य) सुनकर (तन्नाम समकल्पयत्) जीवक वा जीवंधर उसका नाम रक्खा ॥ ९७ ॥

अमृतं सूनुमज्ञानात्संस्थितं कथमभ्यधाः ।
इति क्रुध्यन्स्वभार्यायै सानन्दोऽयमदात्सुतम् ॥९८॥

अन्वयार्थः—इसके पश्चात् उसने घर जाकर (स्वभार्यायै) अपनी स्त्रीके लिये (अमृतं) नहीं मरे हुए (सूनु) बालकको (अज्ञानात्) अज्ञानसे तूने (कथ) कैसे (संस्थितं) मरा हुआ (अभ्यधा) कह दिया (इति क्रुध्यन्) ऐसा कह कर क्रोध करता हुआ (सानन्द अयं) आनन्द सहित इसने (सुतं अदात्) पुत्रको उसे सौंप दिया ॥ ९८ ॥

अभ्यनन्दीत्सुनन्दापि नन्दनस्यावलोकनात् ।
प्राणवत्प्रीतये पुत्रा मृतोत्पन्नास्तु किं पुनः ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ — (सुनन्दा अपि) वैश्यकी स्त्री सुनन्दा भी (नन्दनस्य) पुत्रको (अवलोकनात) देखनेसे (अभ्यनन्दीत) अत्यन्त आनन्दित होती भई। अत्र नीतिः (ही) निश्चयसे (पुत्राः) पुत्र (प्राणवत्)प्राणोंकी तरह (प्रीतये भवन्ति) प्रीतिके लिये होते हैं (तु) और जो (मृतोत्पन्न किं पुन वक्तव्यः) पुत्र मर कर फिर जन्म धारण करते हैं ! उनका तो कहना ही क्या है ॥ ९९ ॥

देवता जननीमस्य बन्धुवेदमपराङ्मुखीम ।
कारण्यमध्यमनैषीत्तापसाश्रमम् ॥ १०० ॥

अन्वयार्थ —(देवता) वह देवी (बन्धुवेश्मपराङ्मुखीं) बन्धुओंके घर जानेसे विमुख (अस्य जननीं) इस जीवंधरकी माताको (दण्डकारण्यमध्यस्थ) दण्डक वनके मध्यमें स्थित (तापसाश्रमम्) तपस्वियोंके आश्रममें (अनैषीत्) पंहुचाती भई ॥१००॥

कृत्वा च तां तपस्यन्तीं सतोषा सा मिषादगात् ।
समीहितार्थसंसिद्धौ मनः कस्य न तुष्यति ॥१०१॥

अन्वयार्थ.—इसके पश्चात् (तां) उस रानीको (तपस्यन्तीं) तपश्चरण क्रियामें लगा करके (सतोषासा) संतुष्ट वह देवी किसी (मिषात्) वहानेसे (अगात्) चली गई। अत्र नीति (समीहितार्थसंसिद्धौ) मनोमिलषत अर्थके सिद्ध हो जाने पर (कस्य मनः) किसका मन (न तुष्यति) संतुष्ट नहीं होता है ? किन्तु (संतुष्यत्येव) संतुष्ट ही होता है ॥ १०१ ॥

अवात्सीद्राजपत्नी च वत्सं निजमनोगृहे ।
जिनपादाम्बुजं चैव ध्यायन्ती हन्त तापसी ॥१०२॥

अन्वयार्थ.—(हन्त) खेदकी वात है ? (तापसी) तपस्विनी (राजपत्नी) राजाकी स्त्री विजया पट्टरानी (जिन पादाम्बुजं) जिनेन्द्रके चरण कमलोंको (ध्यायन्ती) ध्यान करती हुई (निजमनोगृहे) अपने मनरूपी घरमें (वत्सं एव) जीवंधर पुत्रको ही (अवात्सीत्) निवास कराती भई ॥ १०२ ॥

अनल्पतूलतल्पस्थसवृन्तप्रसवादपि ।
निर्भरं हन्त सीदन्त्यै दर्भशय्याप्यरोचत ॥ १०३ ॥

अन्वयार्थः—और (हन्त) बड़े खेदकी वात है ! (अनल्प

तूलतल्पस्थसवृन्तप्रसवाद् अपि, बहुतसी रूईके बिछे हुये हैं गद्दे जिस पर ऐसी शय्याके ऊपर पड़े हुए डोड़ी सहित पुष्पोंसे भी (निर्भरं) अत्यन्त (सीदन्तये) शरीरमें क्लेश मानने वाली रानीके लिये आज (दर्भशय्या अपि) डाभकी चटाई भी (अरोचत) रुचिकर हुई है ॥ १०३ ॥

स्वहस्तलूननीवारोऽप्याहारोऽस्याः परेण किम् ।
अवश्यं ह्यनुभोक्तव्य कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥१०४॥

अन्वयार्थ —(परेण किं) और तो क्या ? (स्वहस्तलून-नीवारः अपि) अपने हाथसे काटा हुआ नीवार धान्य भी (अस्याः) इसका (आहार अजनि) आहार हुआ । अत्र नीति (पूर्वकृतं) पूर्वमें किये हुए (शुभाशुभम कर्म) शुभ वा अशुभ कर्म (अवश्य अनुभोक्तव्य) अवश्य ही भोगने पड़ते हैं ॥ १०४ ॥

अथ गन्धोत्कटायार्थमर्भकार्थं महोत्सवम् ।
आत्मार्थं गणयन्मूढः काष्टाङ्गारोऽप्यदान्मुदा ॥१०५॥

अन्वयार्थ —(अथ) तदन्तर (मूढ.) मूढ (काष्टाङ्गारः) काष्टाङ्गारने (अर्भकार्थं महोत्सवम्) बालकके जन्मके महोत्सवको (आत्मार्थं) अपने लिये (मेरे राजा होनेसे इसने यह महोत्सव किया है) (गणयन) समझ कर उसने (गन्धोत्कटाय) गन्धोत्कट सेठके लिये (मुदा) हर्षसे (अर्थं) धन (अदात्) दिया ॥ १०५ ॥

तत्क्षणे तत्पुरे जातानातानपि तदाज्ञया ।
लब्ध्वा वैश्यपतिः पुत्रं मित्रैः सार्धमवर्धयत् ॥१०६॥

अन्वयार्थः—(वैश्यपतिः) वैश्योंमें प्रधान गन्धोत्कटने

(तत्क्षणे) उस दिन (तत्पुरे जातान्) उस पुरमें उत्पन्न हुए (जातान्) बालकोंको (तदाज्ञया) काष्टाङ्गारकी आज्ञासे (लब्ध्वा) प्राप्त करके (मित्रैः सार्धं) उन मित्रोंके साथ (पुत्रं अवर्धयत्) पुत्रको बढाया ॥ १०६ ॥

अथ जातः सुनन्दाया नन्दाढ्यो नामनन्दनः ।
तेन जीवंधरो रेजे सौभ्रात्रं हि दुरासदम् ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थः–(अथ) तदनन्तर (सुनन्दाया) गंधोत्कटकी स्त्री सुनन्दाके (नन्दाढ्य नाम नन्दन) नंदाढ्य नामका पुत्र (जातः) उत्पन्न हुआ (तेन) उस पुत्रसे (जीवन्धर) जीवन्धर (रेजे) और शोभित होते भये। अत्रनीति (हि) निश्चयसे (सौभ्रात्रं दुरासदम्) अच्छे भाईका मिलना बडा कठिन है ॥ १०७ ॥

एव सद्बन्धुमित्रोऽयमेधमानो दिनेदिने ।
अतिशेते स्म शीतांशुमकलङ्काङ्गभावतः ॥ १०८ ॥

अन्वयार्थः–(एव) इस प्रकार (सद्बन्धुः मित्रः अयं) [illegible] बन्धु और मित्र हैं जिसके ऐसे यह जीवधर कुमार ([illegible]) प्रतिदिन (एधमानः) बढते हुए (अकलङ्काङ्गभावतः, [illegible]) शरीरकी कान्तिसे (शीतांशु) चन्द्रमाको (अतिशेते स्म [illegible]) भये ॥ १०८ ॥

ततः शैशवसंभूष्णुसर्वव्यसनदूरगः ।
पञ्चमं च वयो भेजे भाग्ये जाग्रति [illegible] ॥ १०९ ॥

अन्वयार्थः– (ततः) तदनन्तर ([illegible] दूरगः) बालक अवस्थामें होनेवाले सम्पूर्ण [illegible]

अन्वयार्थ.—(अथ) तदनन्तर कुमार (निष्प्रत्यूहेष्ट सिध्यर्थे) निर्विघ्न इष्ट सिद्धिके लिये (सिद्ध पूजादि पूर्वकम्) सिद्ध परमेष्टीकी पूजा करके (सिद्धमातृकया सिद्धां) अनादि स्वर व्यंजन मात्राओंसे प्रसिद्ध (सरस्वतीं) सरस्वतीको (लेभे) प्राप्त करते भये ॥ ११२ ॥

इति श्री वादीभसिंह सूरि विरचिते क्षत्रचूडामणौ सान्वयार्थो सरस्वतीलम्भो नाम प्रथमो लम्बः ॥

इति

अथ द्वितीयो लम्बः ॥

अथ विद्यागृहं किंचिदासाद्य सखिमण्डितः ।
पण्डितादिश्वविद्यायामध्यगीष्टातिपण्डितः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ —(अथ) तदनन्तर (सखिमण्डित) मित्रगणोंसे भूषित जीवधरकुमारने (किंचित् विद्यागृहं) किसी विद्यालयको (आसाद्य) प्राप्त करके (विश्वविद्याया पंडितात्) सम्पूर्ण विद्याओंमें पण्डित गुरुसे (अध्यगीष्ट) पढ़ा (पश्चात्) पश्चात् (अतिपण्डित बभूव) बड़ा भारी पण्डित हुआ ॥ १ ॥

तस्य प्रश्रयशुश्रूषाचातुर्याद्गुरुगोचरात् ।
स्मृता इवाभवन्विद्या गुरुस्नेहो हि कामसूः ॥ २ ॥

अन्वयार्थ —(तस्य) उसको (गुरुगोचरात्) गुरुके विषयमें (प्रश्रयशुश्रूषाचातुर्यात्) विनय सेवा शुश्रूषा और चतुराई

अन्वयार्थ—(अथ) इसके अनंतर (एकदा) एक दिन (प्रसन्नधी) प्रसन्नचित्त (सूरि.) गुरुने (निज प्रान्तं आवसन्तं) अपने पास रहनेवाले (अन्तेवासिनं) शिष्यसे (एकान्ते) एकान्तमें (अवोचत्) कहा ॥ ५ ॥

श्रुतशालिन्महाभाग श्रूयतामिह कस्यचित् ।
चरितं चरितार्थेन यदत्यर्थं दयावहम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(श्रुतशालिन्महाभाग) हे शास्त्रज्ञानसे शोभित उत्तम भाग्यवाले ! (इह) इस लोकमें प्रसिद्ध (कस्यचित्) किसीके (चरितं) चरित्रको (श्रूयतां) सुनो ! (यत् चरितं) जो चरित्र (चरितार्थेन) सुननेसे (अत्यर्थं) अत्यंत (दयावहम्) दया करनेवाला है ॥ ६ ॥

विद्याधरास्पदे लोके लोकपालाह्वयान्वितः ।
लोकं वै पालयन्भूपः कोऽपि कालमजीगमत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ —(विद्याधरास्पदेलोके) विद्याधरोंका है स्थान जिसमें ऐसे लोकमें (लोकपालाह्वयान्वित) लोकपाल है नाम जिसका ऐसा (कोऽपि भूप) कोई राजा (लोकं वै पालयन्) प्रजाका पालन करता हुआ (कालं अजीगमत्) कालको बिताता भया ॥ ७ ॥

क्षणक्षीणत्वमैश्वर्यं क्षीबाणामिव बोधयत् ।
क्षेपीयः पश्यतां नश्यदभ्रमैक्षिष्ट सोऽधिराट् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—एक दिन (सः अधिराट्) उस राजाने (क्षीबाणां) धनोन्मत्त पुरुषोंको (ऐश्वर्य) ऐश्वर्यमें (क्षणक्षीणत्वं) क्षण मात्रमें नष्ट हो जाता है ? (इति) ऐसा (बोधयत्) बोध करानेवालेके सदृश

कास्य.) भस्मक नामका (महारोगः) महारोग (आसीत्) उत्पन्न हुआ (यः) जो रोग (भुक्तं) खाये हुए अत्यंत पौष्टिक पदार्थोंको भी (क्षणात्) क्षण मात्रमें (भस्मयेत्) भस्म कर देता है ॥ ११ ॥

न हि वारयितुं शक्यं दुष्कर्माल्पतपस्यया ।
विस्फुलिङ्गेन किं शक्यं दग्धुमार्द्रमपीन्धनम् ॥१२॥

अन्वयार्थः—(हि) निश्चयसे (अल्प तपस्या) थोड़ीसी तपस्याके द्वारा (दुष्कर्म) खोटा कर्म (निवारयितुं) निवारण करनेके लिये कोई भी (न शक्यं) समर्थ नहीं हो सकता ? (किं) क्या (विस्फुलिङ्गेन) अग्निकी जरासी चिंगारीसे (आर्द्र इन्धनम्) गीला ईन्धन (दग्धुं शक्यं) जलनेके लिये समर्थ है ? (अपि तु दग्धुं न शक्यं) अर्थात् जलनेके लिये समर्थ नहीं है ॥ १२ ॥

अशक्त्यैव तपः सोऽयं राजा राज्यमिवात्यजत् ।
श्रेयांसि बहुविघ्नानीत्येतन्नह्यधुनाभवत् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ.—(सः अयं राजा) उस इस राजाने (अशक्त्या एव) शक्ति हीनपनेसे (राज्यमिव) राज्यकी तरह (तप अत्यजत्) तप करना छोड़ दिया। अत्रनीति. (हि) निश्चयसे (श्रेयांसि बहु विघ्नानि) कल्याणकारी कार्य बहुत विघ्नवाले (भवंति) होते हैं (इति एतद् अधुना न अभवत्) यह किंवदंती अभी ही नहीं हुई ! किंतु पहलेसे चली आती है ॥ १३ ॥

तपसाच्छादितस्तिष्ठन्स्वैराचारी हि पातकी ।
गुल्मेनान्तर्हितो गृह्णन्विष्करानिव नाफलः ॥ १४

है ? (आशाब्धिः) आशासमुद्र (केन पूर्यते) किससे पूर्ण हो सकता है ॥ २० ॥

अभुञ्जानस्त्वमाश्चर्यादासीनोऽस्मै वितीर्णवान् ।
कारुण्यादस्य पुण्याद्वा करस्थं कवलं मुदा ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ —(अभुञ्जान) नहीं भोजन करते हुए और (आश्चर्याद् आसीन) आश्चर्यसे बैठे हुए (त्वं) तुमने (कारुण्यात्) करुणासे (वा अस्य पुण्यात्) अथवा इसके पुण्यसे (करस्थं) हाथमें रक्खे हुए (कवल) ग्रासको (मुदा) हर्षसे (अस्मै) इसे (वितीर्णवान्) देदिया ॥ २२ ॥

वर्णिनो जठरं पूर्णं तदास्वादनतः क्षणात् ।
आशाब्धिरिव नैराश्याद्दहो पुण्यस्य वैभवम् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ —जैसे (नैराश्यात्) निराश पनेसे (आशाब्धिरिव) आशा रूपी समुद्र पूर्ण हो जाता है उसी तरह (वर्णिन जठरं) उस तपस्वीका उदर (तदास्वादनत) उसके स्वाद मात्रसे (क्षणात् पूर्णं अभूत) क्षण मात्रमें पूर्ण हो गया (अहो) अहो (पुण्यस्य वभवम्) पुण्यकी बड़ी सामर्थ्य है ॥२२॥

परिव्राडपि संप्राप्य सौहित्यं तत्क्षणे चिरात् ।
महोपकारिणोऽस्याहं किं करोमीत्यचिन्तयत् ॥२३॥

अन्वयार्थ —(परिव्राडपि) तपस्वीने भी (तत्क्षणे) उसी समय (चिरात्) बहुत कालके पश्चात् (सौहित्यं संप्राप्य) रोगनिवृति (स्वास्थता) को प्राप्त करके (अस्य महोपकारिणः) इस महोपकारीका (अहं) मैं (कि करोमि) क्या उपकार करूं (इति अचिन्तयत्) ऐसा विचार किया ॥ २३ ॥

बुद्धि हो जानेसे (विनेतुः) विशेष रीतिसे (मोदो भवति) हर्ष होता है ॥ २९ ॥

रत्नत्रयविशुद्धः सन्पात्रस्नेही परार्थकृत् ।
परिपालितधर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरुः ॥ ३० ॥

अन्वयार्थः—(हि) निश्चयसे (यः रत्नत्रयविशुद्धः सन्) जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे विशुद्ध होता हुआ, (पात्रस्नेही) पात्रमें स्नेह करनेवाला, (परार्थकृत्) परोपकारी, (परिपालितधर्मः) धर्मका पालन करनेवाला और (भवाब्धेः तारकः) संसाररूपी समुद्रसे तारनेवाला हो, (स गुरुः अस्ति) वह गुरु है अर्थात् ऐसा गुरु होना चाहिये ॥ ३० ॥

गुरुभक्तो भवाद्भीतो विनीतो धार्मिकः सुधीः ।
शान्तस्वान्तो ह्यतन्द्रालुः शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थः—(यः गुरुभक्तः) जो गुरुभक्त, (भवात् भीतः) संसारसे भयभीत, (विनीतः) विनयी, (धार्मिकः) धर्मात्मा, (सुधीः) उत्तम बुद्धिवाला, (शान्तस्वान्तः) हृदयका शान्त, (अतन्द्रालुः) आलस्य रहित और (शिष्टः) उत्तम आचारवाला हो (सोऽयं शिष्यः इष्यते) वह शिष्य माना गया है। अर्थात् शिष्य ऐसा होना चाहिये ॥ ३१ ॥

गुरुभक्तिः सती मुक्त्यै क्षुद्रं किं वा न साधयेत् ।
त्रिलोकीमूल्यरत्नेन दुर्लभः किं तुषोत्करः ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थः—जब (सती गुरुभक्तिः) समीचीन गुरुकी भक्ति (मुक्त्यै भवति) मुक्तिकी प्राप्तिके लिये होती है; तो क्षु

मुहुर्निवार्यमाणोऽपि सूरिणा न शशाम सः।
हन्तात्मानमपि घ्नन्तः क्रुद्धाः किं किं न कुर्वते ॥३८॥

अन्वयार्थः—(सूरिणा) आचार्यसे (मुहुर्निवार्यमाणः अपि) वारवार रोका हुआ भी (स न शशाम) वह कुमार शान्त नहीं हुआ। (हन्त) खेद है! (आत्मानं अपि) अपनी आत्माको भी (घ्नंत.) नाश करते हुये (क्रुद्धाः) क्रोधी पुरुष (किं किं न कुर्वते) क्या क्या कर्म नहीं कर डालते हैं ॥ ३८ ॥

वत्सर क्षम्यतामेकं वत्सेयं गुरुदक्षिणा।
गुरुणेति निषिद्धोऽभूत्कोऽनन्धो लङ्घयेद्गुरुम् ॥३९॥

अन्वयार्थ·—(हे वत्स) हे बाल! (एकं वत्सर) एक वर्ष और (क्षम्यता) क्षमा करो (इयं गुरु दक्षिणा) यह ही मेरे पढानेकी गुरु दक्षिणा समझो (इति) इस प्रकार (गुरुणा) गुरूसे (निषिद्ध. अभूत्) निषेधित होता भया। (क अनन्धः) कौन सुलोचन (ज्ञानचक्षु) पुरुष (गुरु लङ्घयेत्) गुरुके आदेशको उल्लंघन करता है ॥ ३९ ॥

पश्यन्कोपक्षणे तस्य पारवश्यमसौ गुरुः।
अशिक्षयत्पुनश्चैनमपथघ्नी हि वाग्गुरोः ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—(पुनश्च असौ गुरु) फिर इस गुरुने (कोपक्षणे) क्रोधके समय (तस्य पारवश्यम पश्यन्) उसकी पराधीनताको देख (एनं) इसे (अशिक्षयत्) शिक्षा दी। अत्र नीति (हि) निश्चयसे (गुरोः वाक्) गुरुका वचन (अपथघ्नी) खोटे मार्गका नाश करनेवाला होता है ॥ ४० ॥

अवशः किमहो मोहादकुप पुत्रपुङ्गव।
सति हेतौ विकारस्य तदभावो हि धीरता ॥४१॥

अन्वयार्थ —(हे पुत्र पुङ्गव) हे श्रेष्ठ पुत्र ! (त्वं) तुम (मोहात्) मोहसे (अवशः) विवश होकर (किं) क्यों (अकुप) कोप करते हो। (अत्र नीतिः) (हि) निश्चयसे (विकारस्य हेतौ सति) विकारका कारण होने पर (तद् अभावः) विकारका न होना ही (धीरता) धीरता है ॥ ४१ ॥

अपकुर्वति कोपश्चेत्किं न कोपाय कुप्यसि।
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य जीवितस्य च नाशिने ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ —(चेत्) यदि (अपकुर्वति कोपः) अपकार करनेवालेसे तुम्हारा कोप है तो फिर (त्रिवर्गस्य) धर्म, अर्थ, कामका, (अपवर्गस्य) मोक्षका, और (जीवितस्य) जीवनका (नाशिने) नाश करनेवाले (कोपाय) कोपके लिये (किं) क्यों (न कुप्यसि) कोप नहीं करते हो ॥ ४२ ॥

दहेत्स्वमेव रोषाग्निर्नापरं विषयं ततः।
क्रुध्यन्निक्षिपति स्वाङ्गे वह्निमन्यदिधक्षया ॥४३॥

अन्वयार्थ.—(रोषाग्निः) क्रोधरूपी अग्नि (स्वं एव) अपने आप ही को (दहेत्) जलाती है अर्थात् क्रोधीको ही पहले भस्म करती है! (अपरं विषयं न) दूसरे पदार्थको नहीं। (ततः) इसलिये (क्रुध्यन्) क्रोधी पुरुष (अन्य दिधक्षया) दूसरेको जलानेकी इच्छासे (स्वाङ्गे) पहले अपने शरीरमें ही (वह्निं) अग्निको (निक्षिपति) डालता है ॥ ४३ ॥

हेयोपादेयविज्ञानं नो चेद्व्यर्थः श्रमः श्रुतौ ।
किं व्रीहिखण्डनायासैस्तण्डुलानामसंभवे ॥४४॥

अन्वयार्थ —(चेत्) यदि (हेयोपादेय विज्ञानं नो) हेय वा उपादेयका ज्ञान नहीं है (तर्हि) तो (श्रुतौ) शास्त्रमें (श्रम) परिश्रम करना (व्यर्थ) व्यर्थ है क्योंकि (तण्डुलानां असंभवे) चावलोंके नहीं निकलने पर (व्रीहिखण्डनायासैः किं) धान्यके कूटनेसे क्या फायदा ? अर्थात् कुछ भी फायदा नहीं है ॥४४॥

तत्त्वज्ञानं च मोघं स्यात्तद्विरुद्धप्रवर्तिनाम् ।
पाणौ कृतेन दीपेन किं कूपे पततां फलम् ॥४५॥

अन्वयार्थ —(तद्विरुद्धप्रवर्तिनां) शास्त्र वा तत्वज्ञानके विरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषोंका (तत्वज्ञानं च) तत्वज्ञान भी (मोघं स्यात्) वृथा है । (कूपे पततां, कूएंमे गिरते हुए पुरुषोंको (पाणौ कृतेन दीपेन, हाथमें रक्खे हुये दीपकसे (किं फलं) क्या फल है ? अर्थात् कुछ भी फल नहीं है ॥ ४५ ॥

तत्वज्ञानानुकूलं तदनुष्ठातुं त्वमर्हसि ।
मुषितं धीधनं नस्याद्यथा मोहादिदस्युभिः ॥४६॥

अन्वयार्थ —(तत्तस्मात्) इसलिये (त्व) तुम (तत्वज्ञानानुकूलं, तत्वज्ञानके अनुकूल (अनुष्ठातुं) प्रवृत्ति करनेके लिये (अर्हसि) योग्य हो (यथा) जिससे (मोहादिदस्युभि.) मोहादिक लुटेरोंसे तुम्हारा (धीधन) बुद्धिरूपी धन (मुषितं न स्यात्) चुराया नहीं जावे ॥ ४६ ॥

स्त्रीमुखेन कृतद्वारान्स्वपथोत्सुकमानसान् ।
दुर्जनाहीञ्जहीहि त्वं ते हि सर्वं कषाः खलाः ॥४७॥

अन्वयार्थ —और (त्वं) तुम (स्त्रीमुखेन कृतद्वारान्) स्त्रियोंके जरियोंसे किया है प्रवेश जिन्होंने और (स्वपथोत्सुकमानसान्) अपने खोटे मार्ग पर चलनेके लिये उत्कंठित है मन जिनका ऐसे (दुर्जनाहीन्) दुर्जन रूपी भयकर सर्पोंको (जहीहि) दूरसे ही छोड दो अर्थात् उनके साथ सम्बन्ध मत करो (हि) निश्चयसे (ते खला) वे दुर्जन पुरुष (सर्वकषा) सम्पूर्ण पुरुषोंको दुःख देनेवाले होते है ॥ ४७ ॥

स्पृष्टानामहिभिर्नश्येद्गात्रं खलजनेन तु ।
वंशवैभववैदुष्यक्षान्तिकीर्त्यादिकं क्षणात् ॥४८॥

अन्वयार्थ —(अहिभि स्पृष्टाना) सर्पोंसे डसे हुए पुरुषोंका केवल (गात्र नश्येत) शरीर ही नष्ट होता है (तु) किन्तु (खलजनेन स्पृष्टाना दुर्जन पुरुषोंसे सम्बन्ध करनेवाले पुरुषोंका (वंशवैभववैदुष्यक्षान्तिकीर्त्यादिकं कुल, सम्पत्ति, पाण्डित्य, क्षमा और कीर्त्यादिक गुण (क्षणात्) उसी क्षणमे (नश्येत्) नाशको प्राप्त हो जाते है ॥ ४८ ॥

खलः कुर्यात्खलं लोकमन्यमन्यो न कंचन ।
न हि शक्यं पदार्थानां भावनं च विनाशवत् ॥४९॥

अन्वयार्थ —(खल) दुर्जन पुरुष (लोक) लोकको (खलं) दुर्जन (कुर्यात्) बना देता है किन्तु (अन्य) सज्जन पुरुष (कंचन) किसीको भी (अन्य न कुर्यात्) सज्जन नहीं कर सकता । ।

यौवनं सत्त्वमैश्वर्यमेकैकं च विकारकृत् ।
समवायो न किं कुर्यादविकारोऽस्तु तैरपि ॥५२॥

अन्वयार्थ—(यौवनं) युवावस्था (सत्वं) बल वा शरीर सामर्थ्य और (ऐश्वर्यं) ईश्वरता अर्थात् प्रभुपना (एकैकं) पृथक् पृथक् (विकारकृत्) विकार भावोंको करनेवाले हैं। अर्थात् इनमेंसे प्रत्येकके होने पर मनुष्य कुपथमें प्रवृत्त होजाता है तो (समवाय) समुदाय अर्थात् समूह (किं) किस अनर्थक कार्यको (न कुर्यात्) नहीं करेगा ? करेगा ही (तैः अपि) इसलिये इन तीनोंसे भी तुम्हारा चित्त (अविकारः अस्तु) विकार रहित होवे ? ऐसा आशीर्वाद गुरुने जीवंधरको दिया ॥५२॥

न हि विक्रियते चेतः सतां तद्धेतुसंनिधौ ।
किं गोष्पदजलक्षोभी क्षोभयेज्जलधेर्जलम् ॥५३॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (सतां चेत) सज्जन पुरुषोंका चित्त (तद्धेतु संनिधौ) विकारको कारण मिलने पर भी (न विक्रियते) विकारको प्राप्त नहीं होता है । (किं) क्या (गोष्पदजलक्षोभी) गायके खुर प्रमाण जलको मलिन करनेवाला मेंढक [जलधेः] समुद्रके (जलं) जलको (क्षोभयेत्) क्षोभित कर सकता है ? कदापि नहीं ॥५३॥

देशकालखलाः किं तैश्चला धीरेव बाधिका ।
अवहितोऽत्र धर्मे स्यादवधानं हि मुक्तये ॥५४॥

अन्वयार्थ—(देशकालखलाः) देश, काल और दुर्जन ये (किं कुर्युः) क्या करेंगे (तैः चला) उनसे चलायमान (धीः एव बाधिका)

काष्ठाङ्गारोऽपि रुष्टोऽभूत्तदाक्रोशवचःश्रुतेः ।
असमानकृतावज्ञा पूज्यानां हि सुदुःसहा ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थः—(काष्ठाङ्गारः अपि) काष्ठाङ्गार भी (तदाक्रोशवचश्रुतेः) उन ग्वालियोंके चिल्लानेको सुनकर (रुष्टः अभूत्) व्याधोंपर रुष्ट हुआ। अत्र नीति (हि) निश्चयसे (असमानकृतावज्ञा) छोटे पुरुषोंसे किया हुआ तिरस्कार (पूज्यानां) बड़े पुरुषोंको (सुदुःसहा) सहन नहीं होता है ॥ ६२ ॥

पराजेष्ट पुनस्तेन गवार्थं प्रहितं बलम् ।
स्वदेशे हि शशप्रायो बलिष्ठः कुञ्जरादपि ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ —(तेन) उस व्याध सेनाने (गवार्थं प्रहितं बलम्) गौओंको छुडानेके लिये भेजी हुई काष्ठाङ्गारकी सेनाको (व्यजेष्ट) जीत लिया। अत्र नीति (हि) निश्चयसे (स्वदेशे) अपने स्थानपर (शशप्राय जन्तु) खरगोशके समान भी जन्तु (कुञ्जरात् अपि) हाथीसे भी (बलिष्ठ) बलवान हो जाता है अर्थात् थोड़ी संख्यावाली व्याध सेनाने बलवान् काष्ठाङ्गारकी सेना जीत ली ॥ ६४ ॥

व्यजेष्ट व्याधसेनेति श्रुत्वा घोषोऽपि चुक्षुभे ।
न बिभेति कुतो लोक आजीवनपरिक्षये ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थ —(घोषः अपि) छुमयानेके रहनेवाले भी (व्याध सेना व्यजेष्ट) "व्याधोंकी सेना जीती" (इति श्रुत्वा) यह सुनकर (चुक्षुभे) क्षोभित हुवे अर्थात् स्वयं लड़नेके लिये उत्तेजित होने लगे। सच है इस संसारमें (लोक) संसारी जीव (आजीवनपरिक्षये) जीविकाके नाश हो जाने पर (कुतो न बिभेति) किससे नहीं डरते हैं ॥ ६५ ॥

इत्यूहेन स वीराय विजये हि वनौकसाम् ।
सप्तकल्याणपुत्रीभिर्देया पुत्रीत्यघोषयत् ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ—(इति ऊहेन सः) ऐसा विचारकर उस ग्वालेने (हि) निश्चयसे (वनौकसाम्) व्याधोंको (विजये) जीत लेनेपर (वीराय) जीतनेवाले वीरके लिये (सप्तकल्याणपुत्रीभिः) सात सुवर्णकी पुत्रियोंके साथ (पुत्री देया) पुत्री दूंगा (इति अघोषयत्) ऐसी घोषणा कराई ॥ ६९ ॥

सात्यंधरिस्तु तच्छ्रुत्वा तद्घोषणमवारयत् ।
उदात्तानां हि लोकोऽयमखिलो हि कुटुम्बकम् ॥७०॥

अन्वयार्थ—(तु) इसके अनन्तर (सात्यंधरिः) सत्यंधर राजाके कुमारने (तद् घोषणं श्रुत्वा) उस घोषणाको सुनकर (तत् अवारयत्) उसका निवारण किया। अत्र नीति (हि) निश्चयसे (उदात्तानां) उदार चरित्रवाले पुरुषोंका (अयं) यह (अखिलः लोकः) सम्पूर्ण संसार (कुटुम्बकम्) कुटुम्बके समान है ॥ ७० ॥

जित्वाथ जीवकस्वामी किरातानाहरत्पशून् ।
तमो ह्यभेद्यं खद्योतैर्भानुना तु विभिद्यते ॥७१॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके अनन्तर (जीवकस्वामी) जीवंधर स्वामी (किरातान् जित्वा) व्याधोंको जीतकर (पशून् आहरत्) पशुओंको ले आये। अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (खद्योतैः) पटबीजनेसे (अभेद्यंतमः) नहीं नाश होनेवाला अन्धकार (भानुना तु विभिद्यते) सूर्यसे तो नाश ही हो जाता है ॥७१॥

(जग्राह) गृहण की। अत्र नीति. (हि) निश्चयसे (सतां स्पृहा) सज्जन पुरुषोंकी इच्छा (अयोग्ये) अयोग्य पदार्थमें (न भवति) नहीं होती है ॥ ७४ ॥

माम मामेव पद्मास्यं पश्येति पुनरब्रवीत् ।
गात्रमात्रेण भिन्नं हि मित्रत्वं मित्रता भवेत् ॥७५॥

अन्वयार्थ.—(हे माम) हे मामा ! (मां एव) मुझको ही (पद्मास्य पश्य) पद्मास्य जानो (इति पुनः अब्रवीत्) ऐसा फिर कहता भया। अत्र नीति (हि) निश्चयसे (गात्र मात्रेण भिन्नं) शरीर मात्रसे भिन्न (मित्रत्वं) मित्रपना (मित्रता भवेत्) मित्रता कहलाती है ॥ ७५ ॥

गोदावरीसुतां दत्तां नन्दगोपेन तुष्यता ।
परिणिन्येऽथ गोविन्दां पद्मास्यो वह्निसाक्षिकम् ॥७६

अन्वयार्थ —(अथ) तदनन्तर (पद्मास्य) पद्मास्यने (तुष्यता नन्दगोपेन) सतुष्ट नन्दगोपसे (दत्ता) दी हुई (गोदावरीसुतां) गोदावरीकी पुत्री (गोविन्दां) गोविन्दाको (वह्निसाक्षिकम्) अग्निकी साक्षीपूर्वक (परिणिन्ये) स्वीकार की ॥ ७६ ॥

इति श्रीमद्वादीभसिंह सूरि विरचिते क्षत्रचूडामणौ सान्वयार्थो गोविन्दालम्भो नाम द्वितीयो लम्ब ॥
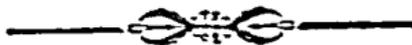
अस्तु पैतृकमस्तोकं वस्तु किं तेन वस्तुना ।
रोचते न हि शौण्डाय परपिण्डाददीनता ॥४॥

अन्वयार्थ—(पैतृकं) पिता संबंधी अर्थात् पूर्वजोंका उपार्जन किया हुआ (अस्तोकं वस्तु अस्तु) बहुतसा धन रहवे (तेन वस्तुना किं) उस धनसे क्या ? अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (शौण्डाय) उद्योगी पुरुषोंके लिये (परपिण्डादि दीनता) दूसरोंकि कमाये हुए अन्नादिक पर निर्वाह करना (न रोचते) रुचिकर नहीं होता है ॥ ४ ॥

स्वापतेयमनायं चेत्सव्ययं व्येति भूर्यपि ।
सर्वदा भुज्यमानो हि पर्वतोऽपि परिक्षयी ॥५॥

अन्वयार्थः— (स्वापतेयं) स्वस्वामिक धन (चेत्) यदि (अनाय) आमदनीसे रहित और (सव्ययं) व्यय करके सहित है तो (भूर्यपि) बहुत भी (व्येति) समाप्त हो जाता है । अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (सर्वदा भुज्यमान) हमेशा भोगमें आने वाला अर्थात् जिसके पत्थर वगैरह काममें आते हो ऐसा (पर्वत: अपि) पर्वत भी एक दिन (परिक्षयी) नाशको प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

दारिद्र्यादपरं नास्ति जन्तूनामप्यरुन्तुदम् ।
अत्यक्तं मरणं प्राणैः प्राणिनां हि दरिद्रता ॥६॥

अन्वयार्थ—(जन्तूनां) मनुष्योंको (दारिद्र्यात् अपरं) दरिद्रतासे बढ़कर दूसरा कोई (अरुन्तुदम्) दुःखको देनेवाला (नास्ति) नहीं है । अत्रनीति (हि) निश्चयसे (प्राणिनां दरिद्रता) जीवोंकि दरिद्रता (प्राणैः अत्यक्तं) प्राणोंके निकलनेके विना (मरणं) मरणके समान है ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—(च) और (लोकद्वयहितं अपि) इस लोक और परलोकमें हितको करनेवाली भी (असतान्) दुर्जन पुरुषोंकी (वस्तु) वस्तु (सुकरं न) सुखके देनेवाली नहीं है। अत्रनीति (हि) निश्चयसे (नादेयं जलं, नदीका मीठा जल (लवणाब्धि गत) लवण समुद्रमें गया हुआ (विफलं स्यात्) निरर्थक हो जाता है ॥ १० ॥

इत्यूहापोहमारुह्य प्रतस्थे स वणिक्पतिः।
वार्धिमेव धनार्थी किं गाहते पार्थिवानपि ॥११॥

अन्वयार्थ—(इति ऊहान्) ऐसा विचार कर (स वणिक्पति) वैश्योंमें प्रधान उस श्रीदत्तने (नावं आरुह्य) नावमें बैठ कर (प्रतस्थे) प्रस्थान किया अत्र नीति (धनार्थी कि) धनके इच्छुक क्या (वार्धिमेव) समुद्रको ही (गाहते) अवगाहन करते हैं? ऐसा नहीं (किन्तु पार्थिवानपि गाहते) किन्तु पृथ्वीके स्वामी राजा आदिक जो किं हैं उनको भी अवगाहन करते हैं। [illegible] जनमें बड़े २ पृथ्वीके राजाओंको भी प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

कोपान्तरान्तरायेऽपि पुनः सांयात्रिको धनैः।
भवत्येव [illegible] जीवानामर्थसंचयकारणम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—[illegible]

(शोक) होवे तो (अज्ञात् प्राज्ञस्य का भेदः) मूर्खसे ज्ञानिमें क्या भेद रहा ? ॥ १५ ॥

भाविन्या विपदो यूयं विपन्नाः किं बुधाः शुचा ।
सर्पशङ्काविभीताः किं सर्पास्ये करदायिनः ॥१६॥

अन्वयार्थ—नौकामें स्थित पुरुषोंको श्रीदत्त सेठने उपदेश दिया (हे बुधा) हे पण्डितो ! (भाविन्या विपद) आनेवाली विपत्तिके (शुचा) शोकसे (यूय किं विपन्ना) तुम लोग क्यों दुखी हो रहे हो (किं) क्या (सर्पशङ्काविभीता) सर्पके भयसे डरे हुये मनुष्य (सर्पास्ये) सर्पके मुखमें (करदायिन सन्ति) हाथ देनेवाले होते है कदापि नहीं ॥ १६ ॥

विपदस्तु प्रतीकारो निर्भयत्वं न शोकिता ।
तच्च तत्त्वविदामेव तत्त्वज्ञाः स्यात तद्बुधाः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(तु) इस लिये (विपद प्रतीकार) विपत्तिका प्रतीकार (निर्भयत्व, निर्भय पना ही है (न शोकिता) शोक करना विपत्तिका प्रतीकार नहीं है (तत च) और निर्भय पना (तत्व विदा एव) तत्व ज्ञानी पुरुषोंके ही होता है (तत्) इस लिये (हे बुधाः) हे पण्डितो ! (यूय तत्वज्ञा स्यात) तुम लोग तत्वोंके जानने वाले हो ॥ १७ ॥

इत्यम्बोधयत्सोऽयं वणिक्पोताश्रितान्सुधीः ।
तत्त्वज्ञानं हि जीवानां लोकद्वयसुखावहम ॥१८॥

अन्वयार्थ—(स अयं सुधी वणिक्) उस इस पण्डित वैश्यने (पोताश्रितान् अपि) नौकामें बैठे हुए पुरुषोंको भी (इति) पूर्वोक्त समझाया । अत्रनीति (हि) निश्चयसे (जीवानां) मनुष्योंके

श्रुत्वा मिषेण केनापि नीत्वा राजतभूधरम् ।
स्वागतेः कारणं सर्वमभाणीत्स वणिक्पतेः ॥२८॥

अन्वयार्थ — फिर (स) उसने (श्रुत्वा) सेठके दुखको सुन कर (केनापि मिषेण) किसी उपायसे (राजत भूधरम् नीत्वा) विजयार्ध पर्वत पर ले जाकर (वणिक्पते) सेठसे (सर्वं स्वागते-कारणम्) अपने आनेका सारा कारण कहा ॥ २८ ॥

विजयार्धगिरावस्ति दक्षिणश्रेणिमण्डने ।
गान्धारविषये ख्याता नित्यालोकाह्वया पुरी ॥२९॥

अन्वयार्थ —(विजयार्ध गिरौ) विजयार्ध पर्वत पर (दक्षिण श्रेणि मण्डने) दक्षिण श्रेणीके भूषण स्वरूप (गान्धार विषये) गान्धर देशमें (नित्या लोकाह्वया पुरी अस्ति) नित्यालोका नामकी पुरी है ॥ २९ ॥

गरुडवेगनामास्यां राजा राज्ञी तु धारिणी ।
पुत्री गन्धर्वदत्ताभूद्भूत्सापि यवीयसी ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—(अस्या) इस नगरीमें (गरुडवेगनाम राजा) गरुड़ वेग नामका राजा राज्य करता है (राज्ञीतु धारिणी) और इसकी धारिणी नामकी रानी है और (गन्धर्वदत्ता पुत्री अभूत्) इन दोनोंके गन्धर्व दत्ता नामकी पुत्री है (सा अपि यवीयसी) और वह पुत्री भी अब जवान हो गई है ॥ ३० ॥

वीणाविजयिनो भार्या राजपुर्यामियं भवेत् ।
भूमाविति मुहूर्तज्ञा जन्मलग्ने व्यजीगणन् ॥३१॥

अन्वयार्थः—(मुहूर्तज्ञाः) ज्योतिषियोंने (जन्मलग्ने) गन्धर्व-दत्ताके जन्म लग्नमें (भूमौ) भूमि गोचरियोंकी (राजपुर्यां) राज-

आनीतवान्) यहां लाया हूं । (इति श्रीदत्तं अकथयत्) उसने ऐसा श्रीदत्त सेठसे कहा ॥ २४ ॥

श्रीदत्तोऽपि तदाकर्ण्य तुतोष सुतरामसौ ।
दुःखस्यानन्तरं सौख्यमतिमात्रं हि देहिनाम् ॥२५॥

अन्वयार्थ —(असौ श्रीदत्त. अपि) श्रीदत्त सेठ भी (तद् आकर्ण्य) यह बात सुनकर (सुतरां तुतोष) अत्यंत संतुष्ट हुआ । अत्रनीतिः (हि) निश्चयसे (देहिनाम्) देहधारी जीवोंके (दुःखस्य अनन्तरं) दुःखके अनन्तर (अतिमात्रं सौख्यं भवति) अत्यन्त सुख होता है ॥ २५ ॥

असुखायत वैश्योऽपि खेचरेन्द्रावलोकनात् ।
मित्रं धात्रीपतिं लोके कोऽपरः पश्यतः सुखी ॥२६॥

अन्वयार्थः—(वैश्य अपि) श्रीदत्त सेठ भी (खेचरेन्द्रावलोकनात्) विद्याधरोंके स्वामीके दर्शनसे (असुखायत) अत्यंत सुखी हुआ । अत्र नीतिः (लोके) इस संसारमें (मित्रं धात्रीपतिं पश्यतः) मित्र राजाको देखनेवालेसे (अपरः कः सुखी) दूसरा कौन सुखी है अर्थात् कोई नहीं है ।

तात्पर्य —इस संसारमें मित्रका दर्शन मात्र भी सुखके लिये होता है फिर अगर पृथ्वी पति मित्र मिल जाय तो उसके सुखका कहना ही क्या है ॥ २६ ॥

नभश्चराधिपः पश्चात्तदायत्तां सुतां व्यधात् ।
प्राणेष्वपि प्रमाणां यत्तद्धि मित्रमितीष्यते ॥२७॥

अन्वयार्थः—(पश्चात्) तत्पश्चात् नभश्चराधिपः) विद्याधरोंके स्वमी गरुड़वेगने (सुतां) अपनी पुत्री (तदायत्तां) उस श्री

(स्त्रीणां एव दुर्मति) स्त्रियोंकी बुद्धि खोटी होती है—

अर्थात् श्रीदत्त सेठने इसलिये अपनी स्त्रीसे कहा कि स्त्रियोंके दुष्ट स्वभावसे यह मेरी स्त्री यह न समझ ले कि यह इसकी दूसरी पत्नी है ॥ ४० ॥

वीणाविजयिनो योग्या भोग्या पुत्री ममेति सः ।
कटके घोषयामास राजानुमतिपूर्वकम् ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ —फिर (स) उस श्रीदत्त सेठने (राजानुमति पूर्वकम्) राजाकी आज्ञापूर्वक (कटके) राज्यभरमें " योग्या) सर्वोत्तमा योग्य (मम पुत्री) मेरी पुत्री (वीणा विजयिन भोग्या) वीणा बजानेमें जीतनेवालेकी भोग्य है अर्थात् जो वीणा बजानेमें इसे जीत लेगा वही इसका पति होगा" (इति घोषयामास) इस प्रकार घोषणा कराई ॥ ४१ ॥

अकुतोभीतिता भूमेर्भूपानामाज्ञयान्यथा ।
अस्तामन्यत्सुवृत्तानां वृत्तं च न हि सुस्थितम् ॥४२॥

अन्वयार्थ —क्योंकि (भूपाना आज्ञया) राजाओंकी आज्ञासे (भूमे·) प्रजाके रहनेवाले मनुष्योंको (अकुतोभीतिता) किसीसे भी भय नहीं होता (अन्यथा) इसके विपरीत अर्थात् राजाकी आज्ञाके बिना (अन्यद् आस्ता) और तो दूर ही रहे (सुवृत्ताना) सच्चरित्र पुरुषोंका (वृत्तं च) सदाचार भी (हि न सुस्थितम्) निश्चयसे स्थिर नहीं रह सकता ।' ४२ ॥

वीणामण्टपमासेदुस्तावता धरणीसुतः ।
स्त्रीरागेणात्र के नाम जगत्यां न प्रतारिताः ॥४

अन्वयार्थ—(सापि) कन्या भी (पराजयं) हारको (जयात्) जीतसे (श्लाघ्यंमत्वा) उत्तम समझ कर (तं आसदत्) उसके पास आगई । अत्रनीति. ! (हि) निश्चयसे (श्रीः) लक्ष्मी (कृत पुण्यानां अन्तिकं) पूर्व जन्ममें किया है पुण्य जिन्होंने ऐसे पुरुषोंके समीपको (अनुविष्यगच्छति) स्वय ढूढकर चली जाती है ॥४६॥

आमुमोचाथ मोचोरुः स्रजं जीवकवक्षसि ।
कुर्वन्तु तप इत्येवं सर्वेभ्यो ब्रुवतीव सा ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके अनंतर (सा मोचोरुः) केलेके समान जंघावली उस गंधर्वदत्ताने " (यूयं एवं तप कुर्वन्तु) तुम लोग भी इस प्रकार तप करो " (इति सर्वेभ्यः ब्रुवतीव) इस प्रकार सबके लिये कहती हुई ही मानो" (जीवक वक्षसि) जीवंधर स्वामीके वक्षस्थलमें (स्रज) पति स्वीकारताकी मालाको (मुमोच) डल द ॥४७॥

काष्ठाङ्गारस्तु तद्वीक्ष्य क्षितिपान्समधुक्षयत् ।
अन्याभ्युदयखिन्नत्वं तद्धि दौर्जन्यलक्षणम् ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—(तु काष्ठाङ्गार) इसके पश्चात् काष्ठाङ्गारने (तद्वीक्ष्य) यह देखकर (क्षितिपान् समधुक्षयत्) राजा लोगोंको लडनेके लिये भडका दिया । अत्र नीति (हि) निश्चयसे (अन्याभ्युदयखिन्नत्व दूसरेकी तरक्कीमें खेदित होना ही (दौर्जन्य लक्षणम्) दुर्जन पुरुषोंका लक्षण है ॥४८॥

कृपयित्वयोग्योऽयः कुप्यानां वेदपक्ष्णुकः ।
कथं लभेत स्त्रीरत्नं शस्तं वस्तु हि भूभुजाम् ॥४९॥

स्थाने कन्यामनः सक्तमित्यूचुः सज्जना मुदा ।
सुधासूतेः सुधोत्पत्तिरपि लोके किमद्भुतम् ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ.—(सज्जना) सज्जन पुरुषोंने (मुदा) हर्षसे "(कन्या मनः स्थाने सक्त इति ऊचु) कन्याका मन योग्य पुरुषमें आसक्त हुआ" ऐसा कहा क्योंकि (लोके) लोकमें (सुधोत्पत्ति. अपि) अमृतकी उत्पत्ति (सुधासूतेः) चन्द्रमासे ही (भवति) होती है। (इति किं अद्भुतम्) इसमें क्या आश्चर्य है अर्थात् इस कन्याको ऐसा ही योग्य वर वरना चाहिये था॥ ५२ ॥

अथ गन्धर्वदत्तां तां श्रीदत्तेनाग्निसाक्षिकम् ।
दत्तां स जीवकस्वामी पर्यणैष्ट यथाविधि ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थ —(अथ) इसके अनतर (स जीवक स्वामी) उन जीवंधर स्वामीने (अग्नि साक्षिकम्) अग्निकी साक्षी पूर्वक (श्रीदत्तेन दत्तां) श्रीदत्त सेठसे दी हुई (तां गंधर्वदत्ता) उस गंधर्व दत्ताको (यथाविधि) विधिपूर्वक (पर्यणैष्ट) व्याहा ॥५३॥

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरि विरचिते क्षत्रचूडामणौ सान्वयार्थो गन्धर्वदत्ता लम्बो नाम तृतीयो लम्बः ॥

—⁂—

(द्रष्टुं) देखनेके लिये (मित्रैः सह ययात्) अपने मित्रोंके साथ गये । अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (लोकः) संसारी लोग (अभिनव प्रिय भवति) हमेशा नवीन वस्तुसे प्रेम करने वाले होते हैं ॥३॥

अवधिषुर्द्विजास्तत्र हविर्दूषितभाषणम् ।
क्रूराः किं किं न कुर्वन्ति कर्म धर्मपराङ्मुखाः ॥४॥

अन्वयार्थ.—(तत्र) वहां पर (द्विजा) याज्ञिक ब्राह्मणोंने " (हविर्दूषितभाषणाम्) हव्य सामग्रीको दूषित किया है जिसने ऐसे कुत्तेको " (अवधिषु) जानसे मार डाला । अत्र नीतिः (धर्म पराङ्मुखाः क्रूरा) धर्मसे पराङ्मुख कठोर हृदय वाले मनुष्य (किं किं कर्म न कुर्वन्ति) क्या क्या नीच कर्म नहीं करते हैं अर्थात् वे सब बुरे कर्म कर डालते हैं ॥ ४ ॥

निर्निमित्तमपि घ्नन्ति हन्त जन्तूनधार्मिकाः ।
किं पुनः कारणाभासे नो चेदत्र निवारकः ॥५॥

अन्वयार्थ —(हन्त) खेद है । (अधार्मिका) पापी पुरुष (निर्निमित्त अपि) विना कारणके भी (जन्तून्) जीवोंको (घ्नंति) मार डालते हैं (कारणाभासे) कारण मिल जाने पर (चेद् अत्र) यदि वहां (निवारक) कोई निवारण करने वाला (न स्यात्) नहीं हो (किं पुनः वक्तव्यम्) तो फिर कहना क्या है ॥ ५ ॥

तद्व्यथां वीक्षमाणोऽयं कुमारो विषसाद सः ।
तद्धि कारुण्यमन्येषां स्वस्येव व्यसने व्यथा ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ.—(तद् व्यथां वीक्षमाणः) उस कुत्तेकी पी- देखते हुवे (अयं कुमारः) यह जीवंधर कुमार (विषसाद)

देवोंका स्वामी होता भया । अत्र नीति (हि) निश्चयसे (कालायसं) अत्यन्तकाला लोहा भी (रसयोगतः) रसके संबंधसे (कल्याणं कल्पते) बहु मूल्य औषधिको प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

मरणक्षणलब्धेन येन श्वा देवताजनि ।
पञ्चमन्त्रपदं जप्यमिदं केन न धीमता ॥ १० ॥

अन्वयार्थ —(मरणक्षणलब्धेन येन) मरणके समय प्राप्त जिस मन्त्रसे (श्वा) कुत्ता भी (देवता अजनि) देवता हो गया तब (केन धीमता) किस बुद्धिमानसे (इदं पञ्चमन्त्रं) यह पञ्च णमोकार मन्त्र (न जाप्यं) नहीं जपने योग्य है ॥ १० ॥

अर्थात्—यह मन्त्र सब बुद्धिमानोंको जपना चाहिये ॥१०॥

स कृतज्ञचरो देवः कृतज्ञत्वात्तदागमत् ।
अन्तर्मुहूर्ततः पूर्तिर्दिव्याया हि तनोर्भवेत् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(स कृतज्ञचरो देवः) वह कुत्तेका जीव देव (कृतज्ञत्वात्) कृतज्ञताके कारण (तदा) उसी समय जीवधर स्वामीके पास (आगमत्) आया (हि) निश्चयसे (दिव्यायाः तनोः) देवोंके शरीरकी (पूर्तिः) पूर्णता (अन्तर्मुहूर्तत भवेत्) अन्तर्मुहूर्तमें हो जाती है ॥ ११ ॥

कुमारममरो दृष्ट्वा हृष्टस्तुष्टाव मृष्टवाक् ।
उपकारस्मृतिः कस्य न स्यान्नो चेदचेतनः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ —(मृष्टवाक्) शुद्ध वाणी बोलनेवाला और (हृष्टः) आनन्दसे परिपूर्ण (अमर) वह यक्षेन्द्र (कुमारं दृष्ट्वा) जीवंधर कुमारको देखकर (तुष्टाव) उनका स्तवन करने लगा । सच है !

(मुहुः मुहुः आपृच्छ्य) बार बार पूछ कर " (गते) चले जाने पर (अत्र प्रस्तुतं उच्यते) यहां जो वृतान्त हुआ उसे कहते हैं ॥१५॥

चूर्णार्थं सुरमञ्जर्याः स्पर्धाभूद्गुणमालया ।
एकार्थस्पृहया स्पर्धा न वर्धेतात्र कस्य वा ॥१६॥

अन्वयार्थः—(चूर्णार्थं) चूर्णके लिये (सुरमञ्जर्याः) सुरमञ्जरीकी (स्पर्धा) ईर्षा (गुणमालया अभूत्) गुणमालाके साथ हुई । अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (अत्र) इस संसारमें (एकार्थस्पृहया) एक ही पदार्थकी इच्छा करनेसे (कस्य) किसके (स्पर्धा न भवेत्) ईर्षा नहीं बढती है । अर्थात्—सबके यही इच्छा होती है कि मैं ही इस पदार्थको लेलूं । अथवा मेरी ही वस्तु औरकी वस्तुसे उत्तम हो ॥ १६ ॥

मा भूत्पराजिता स्नाता नादेये वारिणीति वै ।
संगिराते स्म ते सख्यौ मात्सर्यात्किं न नश्यति ॥१७॥

अन्वयार्थ—"(पराजिता) हारी हुई (नादेये वारिणी स्नाता मा भूत्) नदीके जलमें स्नान नहीं करे " (इति) ऐसी (ते सख्यौ) उन दोनों सखियोंने (वै संगिराते स्म) प्रतिज्ञा की। अत्र नीतिः (मात्सर्यात्किं न नश्यति) द्वेष भावसे क्या नाश नहीं होता है ? अर्थात् सभी कार्य नष्ट हो जाते हैं ॥ १७ ॥

कन्ये प्राहिणुतां पश्चाचेट्यौ स्वे निकटे सताम् ।
कुत्सितं कर्म किं किं वा मत्सरिभ्यो न रोचते ॥१८॥

अन्वयार्थ—(पश्चात् कन्ये) फिर दोनों कन्याओंने (स्वे चेट्यौ) अपनी दो दासियें (सतां निकटे) चूर्णकी परीक्षा करने

होते हुए " (अन्यैः उक्तम् अपि) दूसरोंसे कहा हुआ ही आपने (उक्तम्) कहा (किं) क्या (तैः सार्धं) उनके साथ (भवान् अध्यैष्ट) आपने पढ़ा है " (इति) इस प्रकार (अब्रवीत्) उत्तर दिया । २१॥

चूर्णयोरलिभिः स्वामी गुणदोषावसाधयत् ।
निर्विवादविधिर्नो चेन्नैपुण्यं नाम किं भवेत् ॥२२॥

अन्वयार्थ —फिर (स्वामी) जीवंधर स्वामीने (चूर्णयोः गुणदोषौ) गुणमाला और सुरमञ्जरीके चूर्णोंके गुण और दोषोंका निर्णय (अलिभि) भ्रमरोंके द्वारा (असाधयत्) सिद्ध किया । अत्र नीति (चेत्) यदि (निर्विवादविधि न स्यात्) विवाद रहित विधि न होवे तो फिर (नैपुण्य नाम कि भवेत्) चतुराई ही क्या कहलावे ॥ २२ ॥

आकालिकतया दुष्टं चूर्णमन्यदवर्णयत्
न ह्यकालकृतं कर्म कार्यनिष्पादनक्षमम् ॥२३॥

अन्वयार्थ —जीवधर स्वामीने (अन्यत् चूर्णं) सुरमञ्जरीके चूर्णको (आकालिकतया) असमयमें बनाये जानेसे (दुष्टं) दूषित (अवर्णयत्) बतलाया अर्थात् सुरमञ्जरीका चूर्ण शरदऋतुके समयके अनुकूल था इसलिये उसमें सुगंध न होनेसे उस पर कोई भौंरा नहीं आया । अत्र नीति (हि) निश्चयसे (अकालकृतं कर्म) असमयमें किया हुआ उद्योग (कार्यं निष्पादनक्षमम् न भवति) कार्यके निष्पादन करनेमें समर्थ नहीं होता है ॥ २३ ॥

कुमाराद्य कुट्टन्यौ नुत्वा नत्वा च निर्गते ।
निर्विवादं धिनन्वाना न स्तुत्याः केन भूतले ॥२४॥

जीवकादपरान्नेक्षे पुरुषानिति संविदा।
कन्यागृहमथ प्रापन्न हि भेद्यं मनः स्त्रियाः ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ·—(अथ) इसके अनंतर " (अहं जीवकात् अपरान् पुरुषान्) जीवंधर कुमारके सिवाय दूसरे पुरुषको (न ईक्षे) नहीं देखूंगी " (इति संविदा) ऐसी प्रतिज्ञा करके (कन्या) वह सुरमञ्जरी (गृहं प्रापत्) अपने घरको चली गई। अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (स्त्रिया मनः) स्त्रीका मन (न भेद्यं) किसीसे भेदा नहीं जा सकता अर्थात् स्त्रीकी हठ प्रसिद्ध है उसकी हठ किसीसे टाली नहीं जा सकती ॥ २७ ॥

सख्या तथैव यातायां गुणमाला शुशोच ताम्।
न ह्यनिष्टसंयोगवियोगाभमरुन्तुदम् ॥ २८ ॥

अन्वयार्थः—(सख्यां तथैव यातायां) सखिके वैसे ही चले जानेपर (गुणमाला) गुणमालाने (तां शुशोच) उसके लिये बहुत शोक किया। अत्रानीति. (हि) निश्चयसे (अनिष्टष्ट संयोगवीयोगाभन्) अनिष्ट दुखदाई वस्तुसे संयोग और इष्ट सुखदाई वस्तुसे वियोगके समान (अरुन्तुदम् न) कोई पीड़ा देनेवाला नहीं है ॥ २८ ॥

गन्धसिन्धुरतो भीतिरासीदथ पुरौकसाम्।
विपदोऽपि हि तद्भीतिर्मूढानां हन्त बाधिका ॥२९॥

अन्वयार्थः—(अथ) इसके अनंतर (पुरौकसाम्) राजपुरी नगरीमें रहने वाले मनुष्योंको (गन्धसिन्धुरत) गंध हस्तीसे (भीतिः आसीत्) भय हुआ अर्थात् काष्टाङ्गारका एक हाथी अपने स्थानसे छूटकर मदोन्मत्तासे मनुष्योंको इधर उधर मारता हुआ

अन्वयार्थः—(हि) निश्चयसे (अत्र) इस संसारमें (सम दुःखसुखाः बन्धव एव) समान हैं दुःख और सुख जिनके ऐसे बन्धू ही (बान्धवाः) मित्र (सन्ति) कहलाते हैं और जो (द्वन्द पराङ्मुखाः) विपत्ति कालमें साथ छोडकर दूर भाग जाते हैं वे (कृतान्तस्य) यमके (दूता एव) दूत ही हैं ॥ ३२ ॥

स्वामी परिणतं वीक्ष्य करिणं तं न्यवारयत् ।
स्वापदं न हि पश्यन्ति सन्तः पारार्थ्यतत्पराः ॥३३॥

अन्वयार्थ—(स्वामी) जीवंधर स्वामीने (परिणतं दांतोंसे प्रहार करते हुए (तं करिणं) उस हाथीको (वीक्ष्य) देख कर (न्यवारयत्) हटा दिया। अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (पारार्थ्य तत्पराः) दूसरे मनुष्योंके उपकार करनेमें तत्पर (सन्तः) सज्जन पुरुष (स्वापदं न पश्यन्ति) अपनी आपत्तिको नहीं देखते हैं ॥ ३३॥

यत्र क्वापि हि सन्त्येव सन्तः सार्वगुणोदयः ।
क्वचित्किमपि सौजन्यं नो चेल्लोकः कुतो भवेत् ॥३४॥

अन्वयार्थः—(हि) निश्चयसे (सार्वगुणोदयः) सबके हितके लिये ही है गुणोंकी उत्पत्ति जिनमें ऐसे (सन्तः) सज्जन पुरुष (यत्र क्वापि) जहां कहीं पर (सन्त्येव) विद्यमान ही हैं। (चेत्) यदि (क्वचित्) कहीं पर (किमपि) कुछ भी (सौजन्यं) सुजनता (न स्यात्) न होवे तो फिर (लोकः कुतः भवेत्) संसार ही कैसे चले ॥ ३४ ॥

परिवारोऽप्यथायासीदहंपूर्विकया स्वयम् ।
स्वास्थ्येऽप्यदृष्टपूर्वाश्च कल्पयन्त्येव बन्धुताम् ॥३५

पञ्चमो लम्बः ।

अथ व्यूढामिमां मेने स कुमारोऽतिदुर्लभाम् ।
प्रयत्नेन हि लब्धं स्यात्प्रायः स्नेहस्य कारणम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ —(अथ) इसके अनतर (सः कुमारः) उस जीवंधर कुमारने (व्यूढां इमां) व्याही हुई इस स्त्रीको (अति दुर्लभाम्) अत्यंत दुर्लभ (मेने) जाना। अत्र नीति. (हि) निश्चयसे (प्रयत्नेन लब्धं) प्रयत्नसे प्राप्त की हुई वस्तु (प्राय) प्राय करके (स्नेहस्य कारणम्) स्नेहका कारण (स्यात्) होती है ॥ १ ॥

नादत्त कवलं दन्ती स्वामिकुण्डलताडितः ।
न हि सोढव्यतां याति तिरश्चां वा तिरस्कृतिः ॥२॥

अन्वयार्थ.—(स्वामिकुण्डलताडितः) जीवंधर स्वामीके कुण्डलसे ताडित (दन्ती) हस्तीने (कवलं) ग्रासको (न आदत्त) नहीं ग्रहण किया । अत्र नीति (हि) निश्चयसे (तिरश्चां वा तिरस्कृति) तिर्यचोंके भी तिरस्कार (सोढव्यता) सहनपनेको (न याति) प्राप्त नहीं होता है ॥ २ ॥

काष्ठाङ्गारस्तदाकर्ण्य चुकोप स्वामिने भृशम् ।
सर्पिष्पातेन सप्तार्चिरुदर्चिः सुतरां भवेत् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ.—(काष्ठाङ्गारः) काष्ठाङ्गारने (तद् आकर्ण्य) इस बातको सुन कर (स्वामिने) जीवंधर स्वामीके लिये (भृशं) अत्यंत (चुकोप) कोप किया । अत्र नीति निश्चयसे (सप्तार्चि)

अपि) उपकार करना भी (अपकाराय) अपकारके लिये (कल्पते) होता है (हि) निश्चयसे (पन्नगेन पीतं) सर्पसे पीया हुआ (पयः) दूध (विषस्य एव) विषकी ही (वर्धनम्) वृद्धि करता है ॥६॥

हस्तग्राहं ग्रहीतुं स कुमारं प्राहिणोद्बलम् ।
मूढानां हन्त कोपाग्निरस्थानेऽपि हि वर्धते ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ — (सः) उस काष्ठाङ्गारने (कुमारं) जीवंधर कुमारको (हस्तग्राहं ग्रहीतुं) हाथ बांधकर पकडकर लानेके लिये (बलं) सेना (प्राहिणोत्) भेजी । अत्र नीति (हन्त) खेद है ? (मूढानां) मूर्ख पुरुषोंकी (कोपाग्नि) क्रोधरूपी अग्नि (अस्थाने अपि) अयुक्त स्थानमें भी (वर्धते) बढ़ती है ॥ ७ ॥

अर्थात् जहां क्रोध नहीं करना चाहिये मूर्ख जन वहां भी क्रोध करते हैं ॥ ७ ॥

कुमारावसथं पश्चात्तत्सैन्यं पर्यवारयत् ।
मृगाः किं नाम कुर्वन्ति मृगेन्द्रे परितः स्थिताः ॥८॥

अन्वयार्थ - (पश्चात्) इसके अनन्तर (तत्सैन्यं) काष्ठाङ्गारकी सेनाने (कुमारावसथं) कुमारके रहनेके स्थानको (पर्यवारयत्) चारों तरफसे घेर लिया । अत्र नीति (मृगेन्द्र परितः स्थिताः) सिंहके चारों ओर घेर कर खड़े हुए (मृगाः) हिरन (किं नाम कुर्वन्ति) सिंहका क्या कर सकते हैं ॥ ८ ॥

प्रारेभे च कुमारोऽपि प्रहर्तुं रोषनिघ्नधीः ।
तत्त्वज्ञानजलं नो चेत्क्रोधाग्निः केन शाम्यति ॥ ९

वारि हंस इव क्षीरं सारं गृह्णाति सज्जनः ।
यथाश्रुतं यथारुच्यं शोच्यानां हि कृतिर्मता ॥१८॥

अन्वयार्थः—(सज्जन) सज्जन पुरुष (वारि क्षीर हंस इव) जलमेसे दूध गृहण करनेवाले हंसके सदृश सार) सार वस्तुको (गृह्णाति) गृहण कर लेते है। (हि) निश्चयसे (शोच्यानां कृति.) शोचनीय दुष्ट पुरुषोके कार्य (यथारुच्यं यथा श्रुत मता) रुचि और सुननेके अनूकूल हुआ करते है ॥ १८ ॥

हेत्वन्तरकृतोपेक्षे गुणदोषप्रवर्तिते ।
स्यातामादानहाने चेत्तद्धि सौजन्यलक्षणम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(चेत्) यदि (हेत्वंतर कृतोपेक्षे) दूसरे हेतु पर अपेक्षा रहित (गुणदोष प्रवर्तिने) केवल गुण और दोषसे प्रवर्तित आदानहाने स्याताम्) किसी वस्तुका ग्रहण और त्याग होवे तो (हि) निश्चयसे (तत् सौजन्य लक्षणम्) वह ही सुजनताका लक्षण है ॥ १९ ॥

युक्तायुक्तवितर्केऽपि तर्करूढविधावपि ।
पराङ्मुखात्फलं किं वा वैदुष्याद्वैभवादपि ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(युक्तायुक्त वितर्के अपि योग्य और अयोग्यके विचारकी वितर्कना होनेपर भी (तर्क रूढ विधौ अपि) तर्क सिद्ध उचितकार्य निश्चित हो जाने पर भी (पराङ्मुखात वैदुष्यात्) उससे विमुख विद्वत्ता और (वैभवात्अपि) ऐश्वर्य (प्रभुता) पनेसे (किंवा फलं) क्या फल है। अर्थात् युक्त अयुक्त कार्यके निश्चय कर लेने पर भी यदि उसको न करे तो ऐसे पाण्डित्य और ऐश्वर्य होनेमे क्या लाभ ? ॥ २० ॥

अन्वयार्थ —(हितान्वेषी) हितके चाहनेवाले (सः देव. अपि) उस देवने भी (मनीपिण तस्य) बुद्धिमान इस जीवंधर कुमारकी (ननीपितं) इच्छाको (ज्ञात्वा) ज्ञान कर (अनुमेने) अनुमति दी । अत्र नीति (हि) निश्चयसे (निर्जराः) देव (त्रिकालज्ञा भवंति) तीनों कालकी वातें जाननेवाले होते हैं ॥ ३० ॥

इदं तया यथोदन्नमुपादिश्याथ संमतः ।
सुदर्शनेन सोऽयासीद्धितकृत्त्वं हि मित्रता ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ —(अथ) इसके अनंतर (इदंतया) इस प्रकार (पथोदन उपादिश्य) जानेके मार्गके वृतांतके उपदेशको प्राप्त कर (सुदर्शनेन) सुदर्शन यक्षकी (संमत-) अनुमति सहित (सः) वह जीवधर कुमार वहासे (अयासीत्) चले गये । अत्र नीति (हि) निश्चयसे (हित कृत्वं) हित करनापना ही (मित्रता भवेत्) मित्रता कहलाती है ॥ ३१ ॥

एकाकी व्यहरत्स्वामी निर्भयोऽयमितस्ततः ।
न हि स्ववीर्यगुप्तानां भीतिः केसरिणामिव ॥३२॥

अन्वयार्थ.—(अय स्वामी) इन जीवधर स्वामीने (निर्भय) भय रहित (इतस्तत) इधर उधर (एकाकी) अकेले (व्यहरत्) विहार किया अत्रनीति (हि) निश्चयसे (स्ववीर्य गुप्तानां) अपने पराक्रमसे रक्षित पुरुषोंको (केसारिणा इव) सिंहोंकी तरह (भीतिः न भवेत्) भय नहीं होता है ॥ ३२ ॥

एकाकिनोऽपि नोद्वेगो वशिनस्तस्य जातुचित् ।
विक्रिया हि विमूढानां संपदापद्द्वयादपि ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ·—(एकाकिन·) अकेले (वशिन·) जितेन्द्रिय (तस्य) उन जीवंधर स्वामीको (जातुचित्) कभी भी (उद्वेग·) उद्वेग (न अभूत्) नहीं हुआ । अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे विमूढानां) अज्ञानी मूर्ख पुरुषोंके ही (संपदापल्लवादपि) संपत्ति आपत्तिके लेश मात्रसे (विक्रिया उत्पद्यते) चित्तमें विकार उत्पन्न हो जाता है ॥ ३३ ॥

अर्थात्—सपत्तिके लेश मात्रसे गर्व और विपत्तिके लेश मात्रसे उदासीनता व ग्लानि हो जाती है किंतु बुद्धिमानोंके चित्तमें वैसा नहीं होता ॥ ३३ ॥

अरण्ये क्वचिदालोक्य वनदावेन वारितान् ।
दह्यमानानसौ मह्यत्रातुमैच्छदनेकपान् ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ — क्वचित् अरण्ये) किसी वनमें (असौमह्य·) इन पूज्य जीवधरकुमारने (वनदावेन वारितान्) वनकी अग्निसे घिरे हुये और (दह्यमानान) जलते हुए (अनेकपान्) हाथियोंको (आलोक्य) देखकर (त्रातुं ऐच्छत्) उन्हें बचानेकी इच्छा की ॥ ३४ ॥

धर्मो नाम कृपामूलः सा तु जीवानुकम्पनम् ।
अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिकलक्षणम् ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थः—(कृपामूल धर्मो नाम) दया है मूल (जड़) जिसका वह धर्म है । (सा तु जीवानुकम्पनम्) और जीवोंकी रक्षा करना ही दया कहलाती है । (अत) इसलिये (अशरण्यशरण्यत्वं) जिसका कोई रक्षक नहीं है उसकी रक्षा करना ही (धार्मिक लक्षणम्) धर्मात्मा पुरुषोंका लक्षण है ॥ ३५ ॥

ववृषुर्वारिदास्तत्र तावतैव सगर्जिताः ।
सुकृतीनामहो वाञ्छा सफलैव हि जायते ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ — (तत्र) वहां पर (तावता एव) उसी समय (वारिदाः) मेघ (सगर्जिताः सन्तः) गर्जना करते हुए (ववृषुः) बरसे अत्र नीति ! (अहो !) आश्चर्य है ! (हि) निश्चयसे (सुकृतीनां) पुण्यवान पुरुषोंकी (वाञ्छा) इच्छा (सफला एव जायते) सफल ही होती है ॥ ३६ ॥

अनेकपानसौ वीक्ष्य रक्षितानतृपत्तराम् ।
स्वयं त्वासीत्तमः स्वामी स्वस्य बन्धविमोक्षयोः॥३७॥

अन्वयार्थ —(असौ) जीवन्धर कुमार (रक्षितान्) प्राणोंसे बचे हुए (अनेकपान्) हाथियोंको (वीक्ष्य) देख कर (अतृपत्तराम्) अत्यन्त संतुष्ट हुए। किन्तु (स्वयं तु) अपने आप तो स्वामी जीवंधर स्वामी (स्वस्य बन्धविमोक्षयो) अपने फंस जाने और उससे बच जानेमें (सम) विषाद व हर्ष रहित (आसीत्) थे ॥३७॥

संपदापद्द्वये स्वेषां समभावा हि सज्जनाः ।
परेषां तु प्रसन्नाश्च विपन्नाश्च निसर्गतः ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ — (हि) निश्चयसे (सज्जनाः) सज्जन पुरुष (स्वेषां संपदापद्द्वये) अपनी सम्पत्ति और विपत्तिमें (समभावाः) मध्यस्थ भाववाले (भवन्ति) होते हैं। अर्थात् न तो सम्पत्ति मिलने पर हर्ष होता है और न विपत्ति आने पर शोक होता है ॥ (तु) किन्तु (परेषां) दूसरोंकी सम्पत्ति और विपत्ति कालमें (निसर्गतः) स्वभावसे ही (प्रसन्नाश्च विपन्नाश्च भवन्ति) वे सुखी और दुखी होते हैं ॥ ३८ ॥

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य तीर्थस्थानान्यपूजयत् ।
सदसत्त्वं हि वस्तूनां संसर्गादेव दृश्यते ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थः—(ततः) तदनंतर (तस्मात्) उस वनसे (विनिर्गत्य) निकल कर (तीर्थस्थानानि अपूजयत्) उन जीवंधर स्वामीने तीर्थ स्थानोंकी वंदना की। अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (वस्तूनां) पदार्थोंका (सदसत्त्वं) अच्छा व बुरापना (संसर्गात् एव) उनके साथ संबंध होनेसे ही (दृश्यते) देखा जाता है ॥ ३९ ॥

अथ संभावयामास यक्षी सा धर्मरक्षिणी ।
धर्ममूर्तिममुं तत्र सम्यक्कशिपुदानतः ॥ ४० ॥

अन्वयार्थः—(अथ) इसके अनंतर (तत्र) वहां पर (धर्मरक्षिणी सा यक्षी) धर्मकी रक्षा करनेवाली प्रसिद्ध यक्षिणीने (अमुं धर्ममूर्ति) इन धर्ममूर्ति जीवंधर कुमारका (कशिपुदानतः) अन्न वस्त्रादिकके देनेसे (सम्यक्) भले प्रकार (संभावयामास) आदर सत्कार किया ॥ ४० ॥

देवनेनापि पूज्यन्ते धार्मिकाः किं पुनः परैः ।
अतो धर्मरता सन्तु शर्मणि स्पृहयालवः ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थः—जब (देवनेन अपि) देवतासे भी (धार्मिकाः) धार्मिक पुरुष (पूज्यन्ते) पूजित होते हैं और (परैः किं पुनः वक्तव्य) का तो फिर कहना ही क्या है। (अतः) इस लिये (शर्मणि स्पृहयालवः) सुखकी वाञ्छा करनेवाले पुरुष (धर्मरताः सन्तु) धर्ममें प्रीति करनेवाले हों ! ॥ ४१ ॥

ततः पल्लवदेशस्थां चन्द्राभाख्यां क्रमात्पुरीम् ।
भेजे शुभनिमित्तेन सनिमित्ता हि भाविनः ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ —(ततः) तदनंतर (क्रमात्) क्रमसे (पल्लवदेशस्थां) पल्लवदेशमें स्थित (चन्द्राभाख्यां पुरीं) चन्द्राभा नामकी पुरीको इन जीवंधर स्वामीने (शुभनिमित्तेन) शुभ निमित्तसे (भेजे) प्राप्त की। अत्र नीति· (हि) निश्चयसे (भाविनः) होनेवाली बात (सनिमित्ताः भवन्ति) अवश्य कुछ न कुछ निमित्त वाली होती है ॥ ४२ ॥

राज्ञो धनपतेः पुत्रीमहिदष्टामजीवयत् ।
निर्हेतुकान्यरक्षा हि सतां नैसर्गिको गुणः ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ —वहां चन्द्राभा नामकी पुरीमें उन जीवंधर कुमारने (अहिदष्टां) सांपसे डसी हुई (राज्ञः धनपतेः) राजा धनपतिकी (पुत्रीं) पुत्रीको (अजीवयत्) जीवदान दिया। अत्र-नीति· (हि) निश्चयसे (निर्हेतुका) विना प्रयोजनके (अन्यरक्षा) दूसरोंकी रक्षा करना ही (सतां) सज्जन पुरुषोंका (नैसर्गिकः गुणः) स्वाभाविक गुण है ॥ ४३ ॥

लोकपालस्तदालोक्य तज्ज्येष्ठस्तमपूजयत् ।
प्राणप्रदायिनामन्या न ह्यस्ति प्रत्युपक्रिया ॥ ४४॥

अन्वयार्थ —(तज्ज्येष्ठः लोकपालः) उस पुत्रीके बड़े भाई लोकपालने (तत् आलोक्य) वह देखकर (तं अपूजयत्) स्वामीको पूजा की। अत्रनीति (हि) निश्चयसे (प्राणप्रदायिनां) प्राणोंको बचानेवाले पुरुषोंका (अन्या प्रत्युपक्रिया न) पूजाको छोड़कर दूसरा प्रत्युपकार नहीं है ॥ ४४ ॥

पूज्या अपि स्वयं सन्तः सज्जनानां हि पूजकाः ।
पूज्यत्वं नाम किं नु स्यात्पूज्यपूजाव्यतिक्रमे । ४५

अन्वयार्थः—(पार्थिवः) राजा धनपतिने (स्वामिने) जीवंधर स्वामीके लिये (सर्वराज्यं) आधा राज्य (च) और (कन्या) कन्याको (ददौ) देदी । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (संपदः) संपत्तियें (पात्रतां नीतं) पात्रताको प्राप्त (आत्मानं) आत्माको (स्वयं यान्ति) स्वयं प्राप्त हो जाती हैं ॥ ४८ ॥

तिलोत्तमासुतां पश्चाल्लोकपालसमर्पिताम् ।
पर्यणैषीत्पवित्रोऽयं पद्माख्यां तां यवीयसीम् ॥४९॥

अन्वयार्थ—(पश्चात्) पश्चात (अयं पवित्र) इस पवित्र जीवंधर कुमारने (लोकपालसमर्पिताम्) लोकपालसे दी हुई (तिलोत्तमा सुतां) तिलोत्तमाकी पुत्री (यवीयसीं) युवती (तां पद्माख्यां) उस पद्मानामकी कन्याको (पर्यणैषीत्) व्याहा ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्वादीभसिंह सूरि विरचिते क्षत्रचूडामणौ सान्वयार्थो पद्मा-लम्भो नाम पञ्चमो लम्बः ॥

ॐ

अथ षष्ठो लम्बः ।
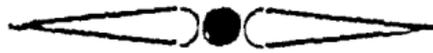
अथोपयम्य पद्मां तां रमयन्नप्ययात्ततः
असक्तो हि सुखं भुङ्क्ते कृतार्थोऽपि जनः कृती ॥१॥

अन्वयार्थ —(अथ, इसके पश्चात् (ता पद्मा) उस पद्माना·मकी कन्यासे (उपयम्य) विवाह करके (रमयन् अपि) उसके साथ सुखभोग करते हुए भी जीवंधर स्वामी (ततः अयात्) वहांसे चले गये । अत्रनीति· (हि) निश्चयसे (कृतार्थ· अपि) भोग साम ग्रीसे कृतार्थ होने पर भी (कृती जनः) धर्मात्मा पुरुप (असक्त सन्) आसक्त नहीं होते हुए अर्थात् (विरक्त हो कर) (सुखं भुङ्क्ते) सुखका भोग करते है ॥ १ ॥

पद्मा तु तद्वियोगेन दुःखसागरसादभूत् ।
तत्वज्ञानविहीनानां दुःखमेव हि शाश्वतम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ —(तु पुन.) फिर (पद्मा) पद्मा (तद्वियोगेन) जीवंधर स्वामीके वियोगसे (दु खसागरसात् अभूत्) दु खसाग·रमें डूब गई । अत्रनीति ! (हि) निश्चयसे (तत्वज्ञानविहीनानां) तत्वज्ञान रहित जीवोंको (शाश्वतम्) निरतर (दु·खमेव स्यात्) दु ख ही रहता है ॥ २ ॥

लोकपालजनैर्नायं रोद्धुं शेके गवेषिभिः ।
प्रतिहन्तुं न हि प्राज्ञैः प्रारब्धं पार्यते परैः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ —(गवेषिभि) ढूंढनेवाले (लोकपालजनै) लोक पालके नौकर चाकर (अयं) इन जीवंधर स्वामीको (रोद्धुं) रोकनेके

लिये (न शेके) समर्थ नहीं हुए । अत्र नीति· (हि) निश्चयसे प्राज्ञै प्रारब्ध) बुद्धिमानोंसे आरम्भ किये हुए कार्यमें (परै प्रति हन्तुं न पार्यते) दूसरे मनुष्य विघ्न डालनेके लिये समर्थ नहीं होते।

अर्थात्—बुद्धिमानोंका कार्य नियमसे परिपूर्ण होता है ॥३॥

सत्वरं गत्वरः स्वामी तीर्थस्थानान्यपूजयत् ।
पावनानि हि जायन्ते स्थानान्यपि सदाश्रयात् ॥४॥

अन्वयार्थ—(सत्वर) शीघ्र (गत्वर) चलनेवाले (स्वामी) जीवंधर स्वामीने (तीर्थ स्थानानि) तीर्थ स्थानोंकी (अपूजयत्) पूजा की । अत्र नीति ! हि निश्चयसे (स्थानानि अपि) स्थाने भी (सदाश्रयत) सज्जन महात्मा पुरुषोंके आश्रयसे (पावनानि जायन्ते) पवित्र हो जाते हैं ॥ ४ ॥

सद्भिरध्युषिता धात्री संपूज्येति किमद्भुतम ।
कालायसं हि कल्याणं कल्पते रसयोगतः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(सद्भि· अध्युषिता) सज्जन महात्मा पुरुषोंने निवास की गई हुई (धात्री) पृथवी (सपूज्या) पूजनीय हो जाती है (इत्यत्र किमद्भुतम । इसमें क्या आश्चर्य है ? ॥ (हि) निश्चयसे (कालायस) काला लोहा भी (रसयोगत) रस प्रक्रियासे (कल्याणं) बहु मूल्य औषधिको (कल्पते) प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

सदसत्संगमादेव सदसत्वे नृणामपि ।
तस्मात्सत्संगताः सन्तु सन्तो दुर्जनदूरगाः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(सदसत्संगमात एव) सज्जनो और दुर्जनोंके समागम होनेसे (नृणाम) मनुष्योंके (सदसत्वे) सज्जन और दुर्जनपना (जायेते) उत्पन्न होता है । (तस्मात्) इसलिये (सन्त·) सज्जन

(दुर्जनदूरगाः सन्तः) दुर्जनोंसे दूर रहते हुए (सत्संगताः स तु) सज्जनोंसे ही समागम करनेवाले होवें ॥ ६ ॥

याजंयाजमटन्नेव तीर्थस्थानानि जीवकः ।
क्रमेणारण्यमध्यस्थं तापसाश्रममाश्रयत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(जीवक.) जीवंधर स्वामी (अटन् एव) घूमते फिरते हुए ही (तीर्थस्थानानि) तीर्थ स्थानोंकी (याजंयाजं) अधिक रीतिसे पूजा कर (क्रमेण क्रमसे (अरण्यमध्यस्थं) वनके मध्यमें स्थित (तापसाश्रमम्) तपस्वियोंके आश्रममें (आश्रयत्) पहुचे ॥ ७ ॥

असत्तपो विलोक्यासीदनुकम्पी तपस्विनाम् ।
निर्व्याजं सानुकम्पा हि सार्वाः सर्वेषु जन्तुषु ॥८॥

अन्वयार्थः—जीवंधर स्वामी (तत्र) वहां पर (तपस्विनाम्) तपस्वियोंके (असत्तप विलोक्य) झूटे मिथ्या तपको देख करके (अनुकम्पी आसीत्) दयायुक्त हुए। अत्र नीति ! (हि) निश्चयसे (सार्वाः पुरुषाः) सबका हित करनेवाले पुरुष (सर्वेषु जन्तुषु) सम्पूर्ण प्राणियोंपर (निर्व्याजं) निष्कपट (सानुकम्पा भवन्ति) दया करनेवाले होते हैं ॥ ८ ॥

अतत्वज्ञेऽपि तत्वज्ञैर्भवितव्यं दयालुभिः ।
कूपे पिपतिषुर्बालो न हि केनाप्युपेक्ष्यते ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ —(अतत्वज्ञे अपि) तत्व ज्ञानरहित पुरुषों पर भी (तत्वज्ञैः) तत्वके जाननेवाले पुरुषोंको (दयालुभिः) दयावान (भवितव्यं) होना चाहिये (हि) निश्चयसे (कूपे पिपतिषुः) कुएमें

ड़ियोंमें प्रविष्ट हुये भी (पुनः) फिर पंचाग्नि तप करते हुए (अग्नौ च्युतान्) अग्निमें गिरे हुए (पश्यतां पुरतः) देखनेवालोंके प्रत्यक्ष (नश्यतः) प्राणरहित होते हुए (जन्तून्) प्राणियोंको (यूय पश्यत) तुम लोग देखो ॥ १२ ॥

पञ्चाग्निमध्यमस्थानं ततो नैवोचितं तप ।
जन्तुमारणहेतुत्वादाजवञ्जवकारणम् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ —(ततः) इसलिये (पंचाग्नि मध्यमस्थान) पंचाग्निके मध्यमें है स्थिति जिसकी (एतादृश तप) ऐसा तप (नैव उचित) करना उचित नहीं है क्योंकि यह तप (जंतुमारण हेतुत्वात्) प्राणियोंके मरणका हेतु होनेसे (आजवञ्जवकारणम्) उल्टा संसारका ही कारण है अर्थात्–मोक्षका हेतु नहीं है ॥१३॥

तत्तपो यत्र जन्तूनां संतापो नैव जातुचित् ।
तच्चारम्भनिवृत्तौ स्यान्न ह्यारम्भो विहिंसनः ॥१४॥

अन्वयार्थः—(यत्र) जिसमे (जन्तूनां) जीवोको (जातुचित्) कभी भी (संताप.) संताप (नैव जायते) नहीं होता है (तत् तपः) वह ही सच्चा तप है । (तच्च) और वह तप (आरम्भनिवृत्तौ स्यात) आरम्भकी सर्वथा निवृत्ति होने पर होता है और (हि) निश्चयसे (आरम्भः) आरम्भ (हिंसात्मकक्रिया) (विहिंसन न स्यात्) हिंसारहित नहीं होती है । १४ ॥

आरम्भविनिवृत्तिश्च निर्ग्रन्थेष्वेव जायते ।
न हि कार्यपराचीनैर्मृग्यते भुवि कारणम् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—और (आरंभविनिवृत्तिश्च) आरम्भकी निवृत्ति त्याग (निर्ग्रन्थेषु एव जायते) निर्ग्रथ पदधारी मुनियोंमें ही

होती है । अत्र नीति (हि) निश्चयसे (भुवि) संसारमें (कार्यपराचीनैः) कार्यसे पराङ्मुख पुरुष (कारण न मृग्यते) कारणकी खोज नहीं करते ॥

अर्थात्—जिन्हें कोई सांसारिक कार्य करना ही नहीं है वे उनके हेतु आरंभादिक कार्य क्यों करेंगे ॥ १५ ॥

नैर्ग्रन्थ्यं हि तपोऽन्यत्तु संसारस्यैव साधनम् ।
मुमुक्षूणां हि कायोऽपि हेयः किमपरं पुनः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (नैर्ग्रन्थ्य तप) बाह्याभ्यंतर परिग्रह रहित मुनिवृत्ति ही वास्तविक तप है (अन्यत्) इसके अतिरिक्त तप (तु) तो (संसारस्यैव साधनम्) जन्म मरणरूप संसारका ही साधक है । अत्र नीति (हि) निश्चयसे (मुमुक्षूणां) मोक्षके चाहनेवाले पुरुषोंको (काय अपि) शरीर भी (हेय.) छोडने योग्य है (अपरं पुन कि वक्तव्यं) और दिनपका तो फिर कहना ही क्या है ॥ १६ ॥

ग्रन्थानुबन्धी संसारस्तेनैव न परिक्षयी ।
रक्तेन दूषितं वस्त्रं न हि रक्तेन शुध्यति ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(ग्रन्थानुबन्धी संसारः) रागद्वेषादि परिग्रह कारण ही संसार है (तेन एव न परिक्षयी भवति) इसलिये उस परिग्रह ही से उसका नाश नहीं हो सकता अर्थात् परिग्रहसे संसारकी ही वृद्धि होती, मोक्षकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (रक्तेन, रुधिरसे (दूषितं वस्त्रं) मैला वस्त्र (रक्तेन न शुध्यति) रुधिरसे ही शुद्ध नहीं हो सकता ।१

तत्त्वज्ञानविहीनानां नैर्ग्रन्थ्यमपि निष्फलम् ।
न हि स्थाल्यादिभिः साध्यमन्नमन्यैरतण्डुलैः ॥१८॥

अन्वयार्थः—(तत्वज्ञानविहीनानां) यथार्थ तत्वज्ञानसे रहित जीवोंके (नैग्रन्थ्यं अपि) मुनिधर्म भी (निष्फलं) है । अत्रनीति. (हि निश्चयसे (अतण्डुलै) चावलादिकोंके विना (अन्यैः स्थाल्यादिभि) अन्य बटलोई, जल, अग्नि आदिकके द्वारा (अन्नं साध्यं न भवति) अन्नपाक नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

अर्थात्---उपादान कारणके विना केवल निमित्त कारणसे कदापि कार्य निष्पादन नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानं च जीवादितत्त्वयाथात्म्यनिश्चयः ।
अन्यथा धीस्तु लोकेऽस्मिन्मिथ्याज्ञानं हि कथ्यते ।१९।

अन्वयार्थ —(जीवादितत्वयाथात्म्यनिश्चयः) जीवादिक (जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष) इन सात तत्वोंके असाधारण स्वरूपका संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित निश्चय करना ही (तत्वज्ञान च भवति) सम्यग्ज्ञान कहलाता है । (तु पुन) और (अस्मिन् लोके) इस लोकमें (अन्यथा धीः) उपर्युक्त तत्वोंका विपरीत ज्ञान ही (मिथ्या ज्ञानं कथ्यते) *मिथ्या ज्ञान कहलाता है ॥ १९ ॥*

आप्तागमपदार्थाख्यतत्त्ववेदनतद्रुची ।
वृत्तं च तद्द्वयस्यात्मन्यस्खलद्वृत्तिधारणम् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ —(आप्तागमपदार्थाख्यतत्ववेदनतद्रुची) आप्त, आगम, पदार्थ इन तीनोंके यथार्थ ज्ञानको ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं और इनमें रुचि व श्रद्धान होनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं (च) और

वकः) ये गरुड है इस बुद्धिसे ध्यान किया हुआ बगुला (विषं न हन्ति) विषको दूर नही कर सकता ॥ २३ ॥

सर्वदोषविनिर्मुक्तं सर्वज्ञोपज्ञमञ्जसा ।
तप्यध्वं तत्तपो यूयं किं मुधा तुषखण्डनैः ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः—(यत्तप) जो तप (सर्वदोषविनिर्मुक्तं) सम्पूर्ण दोषोंसे रहित (सर्वज्ञोपज्ञं) सर्वज्ञका कहा हुआ हो (यूयं) तुम लोग (तत्तप) उस तपको (अञ्जसा तप्यध्वं) भले प्रकार तपो (मुधा तुषखण्डनैः किं) वृथा भूसेके कूटनेसे क्या ॥ २४ ॥

रागादिदोषसंयुक्तः प्राणिनां नैव तारकः ।
पतन्तः स्वयमन्येषां न हि हस्तावलम्बनम् ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः—(रागादिदोषसंयुक्तः देवः) रागादि दोषोंसे सहित देव (प्राणिनां तारकः नैव) प्राणियोंको संसार समुद्रसे पार नही कर सकता । अत्र नास्ति (हि) निश्चयसे (स्वयं पतन्तः) आप ही डूबनेवाला (अन्येषां) दूसरोंको (हस्तावलम्बनं न भवति) अपने हाथका सहारा देनेवाला नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

न च क्रीडा विभोस्तस्य बालिशेष्वेव दर्शनात् ।
अतृप्तश्च भवेत्तृप्तिं क्रीडया कर्तुमुद्यतः ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ —(तस्य विभो) और उस ईश्वरके (क्रीडा न च) क्रीडा नहीं हो सकती क्योंकि क्रीडा तो (बालिशेषु एव दर्शनात्) बालकोंमें ही देखी जाती है । (च) और अथवा (अतृप्तः) जो अतृप्त पुरुष है (क्रीडाया तृप्तिं कर्तुं) वह क्रीडसे तृप्ति करनेके लिये (उद्यतः भवेत्) उद्यत होता है ॥ २६ ॥

धर्माश्रितान्समालोक्य तापसान्मुमुदे कृती ।
प्रीतये हि सतां लोके स्वोदयाच्च परोदयः ॥३०॥

अन्वयार्थ.–(कृती) विद्वान् जीवंधर (धर्माश्रितान् तापसान् समालोक्य) धर्मयुक्त उन तपस्वियोंको देखकर (मुमुदे) अत्यंत आनंदित हुए अत्र नीतिः (हि) निश्चनसे (लोके) इसलोकमें (सतां) सज्जन पुरुषोंको (सोदयात्) अपने उदयकी अपेक्षा (परोदयः) दूसरेका अभ्युदय ही (प्रीतये भवति) प्रीतिके लिये होता है ॥ ३० ॥

बोधिलाभात्परा पुंसां भूतिः का वा जगत्त्रये ।
किंपाकफलसंकाशैः किं परैरुदयच्छलैः ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ.—(जगत्त्रये) तीनोंलोकोंमें (पुंसा) पुरुषोंको (बोधिलाभात्) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्रकी प्राप्तिसे (परा) उत्कृष्ट (का वा भूतिः) और कौनसा ऐश्वर्य है । (किंपाक फल संकाशैः उदयच्छलैः) विष वृक्षके फलके समान प्राप्ति कालमें छलने वाले (परैः किं) धन सम्पत्यादिक इन्द्रिय विषयादिकोंसे क्या फल ॥ ३१ ॥

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य देशे दक्षिणनामके ।
सहस्रकूटमाश्रित्य श्रीविमानं नुनाव सः ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ.—(ततः) इसके अनंतर (सः) उन जीवंधर स्वामीने (तस्मात्) उस तापसाश्रमसे (विनिर्गत्य) निकल कर (दक्षिण नामके देशे) दक्षिण नामके देशमें (सहस्रकूटं) सहस्रकूट नामके (श्री विमानं) जिनालयको (आश्रित्य) प्राप्त होकर (नुनाव) स्तुति प्रारंभ की ॥ ३२ ॥

ही है ! मुक्तिद्वारकवाटस्य भेदिना) मोक्ष रूपी द्वारके किंवाडोंको भेदन करनेवाले स्तवनसे (किं न भिद्यते) क्या भेदन नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

अर्थात्---मोक्षका देनेवाला स्तवन सब कुछ करनेमें समर्थ है ॥ ३६ ॥

अन्याशक्यमिदं मान्यो वितन्वन्न विसिष्मिये।
लोकमालोकमात्कुर्वन्नहि विस्मयते रविः ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थः---(मान्यः) माननीय जीवंधरने (अन्याशक्यमिद वितन्वन्) दूसरोंके लिये अशक्य इस कार्यको करते हुए (न विसिष्मिये) कुछ भी आश्चर्य नहीं किया अत्र नीति ! (हि) निश्चयसे (रवि) सूर्य (लोकं) ससारको (आलोकसात् कुर्वन्) प्रकाश मय करता हुआ स्वयं कुछ भी (न विस्मयते) आश्चर्य युक्त नहीं होता है ॥३७॥

तावता तं समासाद्य प्रणतः कोऽपि पिप्रिये।
स्वमनीषितनिष्पत्तौ किं न तुष्यन्ति जन्तवः ॥३८॥

अन्वयार्थ---(तावता) उसी समय (प्रणतः क अपि) विनयी कोई पुरुष (तं समासाद्य) जीवंधर स्वामीके पास आकर (पिप्रिये) अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अत्र नीतिः। (हि) निश्चयसे (स्वमनीषितनिष्पत्तौ) अपने इच्छित कार्यकी सफलता हो जाने पर (जन्तवः) प्राणी (किं न तुष्यति) क्या संतोषित नहीं होते है (किन्तु सतुष्यंति एव) किन्तु संतुष्ट होते ही हैं ॥३८॥

स्वामी तु तं समालोक्य कस्त्वमार्येति पृष्टवान्।
प्रभूणां प्राभवं नाम प्रणतेष्वेकरूपता ॥ ३९ ॥

नाम्नागेहिनी अस्ति) निर्वृत्ति नामकी उसकी स्त्री है । (तयो क्षेमश्री इति नाम्ना पुत्री अभूत) और इन दोनोंके क्षेमश्री नामकी पुत्री है ॥ ४२ ॥

जन्मलग्ने च दैवज्ञास्तत्पतिं नमजीगणन् ।
स्वयंविघटितद्वारो येनायं स्याज्जिनालयः ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ —(दैवज्ञा) ज्योतिषियोंने (जन्मलग्ने) इस कन्याके जन्म लग्नमें " (येन) जिस पुरुषके निमित्तसे (अय जिनालय) यह जिन मन्दिर (स्वयंविघटितद्वार स्यात्) स्वयं खुले हुए द्वारवाला हो जावेगा (त तत्पति) वही उसका पति होगा " (इति अजीगणन्, ऐसा निश्चय किया है ॥ ४३ ॥

तत्परीक्षाकृतेऽत्रैव गुणभद्रसमाह्वयः ।
प्रेष्योऽहं प्रतिस्तिष्ठन्भवन्तं दृष्टवानिति ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ —(तत्परीक्षा कृते) उस पुरुषकी परीक्षा करनेके लिये (प्रेरत·) भेजा हुआ गुणभद्रसमाह्वय प्रेष्य अह) गुणभद्र नामके किङ्कर मैंने (अत्रवतिष्ठन्) यहांपर ठहरे हुए (भवन्तं) आपको (दृष्टवान्) देखा । (इति) ऐसा जीवंधर स्वामीको उसने उत्तर दिया ॥ ४४ ॥

इत्युक्त्वा स पुनर्नत्वा गत्वा सत्वरमात्मनः ।
स्वामिने स्वामिवृत्तान्तममन्दप्रीतिरब्रवीत् ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ·—(स·) उस गुणभद्रने (इति उक्त्वा) यह कह करके और (पुन. नत्वा) नमस्कार कर (आत्मन स्वामिने) अपने मालिकके पास (सत्वरं गत्वा) शीघ्र जाकर (अमन्द प्रीतिः) अत्यन्त प्रीति पूर्वक (स्वामिवृत्तान्त अब्रवीत्) स्वामीका वृत्तांत कहा ॥ ४५ ॥

नम्रता (पक्वतां शास्ति) उनकी पक्वता अर्थात् योग्यता और बड़प्पनको प्रगट करती है ॥ ४८ ॥

तद्गेहम तस्य निर्बन्धादथ बन्धुप्रियो गतः ।
सख्यं साप्तपदीनं हि लोके संभाव्यते सताम् ॥४९॥

अन्वयार्थः—(अथ इसके अनंतर (बंधुप्रियः) बंधुओंका प्यारा जीवंधर (तस्य निर्बन्धात्) उस सेठके आग्रह करनेसे (तद्गेहमगत·) उनके घर गये । अत्र नीति· । (हि) निश्चयसे (लोके) संसारमें (सतां सख्यं) सज्जन पुरुषोंकी मित्रता (साप्तपदीनं संभाव्यते) दूसरोंके साथ सात पदोंके उच्चारण करनेसे ही हो जाती है ॥४९॥

आश्रयन्तीं श्रियं को वा पादेन भुवि ताडयेत् ।
कन्यायाः करपीडां च तद्दैन्यादन्वमन्यत ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ —(भुवि) संसारमें (को वा) कौन पुरुष आश्रयंतीं श्रियं) अपने आश्रयको प्राप्त होनेवाली लक्ष्मीको (पादेन ताड्येत्) चरणोंसे ताड़न करता है अर्थात् लात मारता है (च) और (तद्दैन्यात्) उस सेठकी दीनता पूर्वक प्रार्थनासे (कन्याया) कन्याके (करपीडां) विवाहको (अन्वमन्यत) अपने साथ करना स्वीकार किया ॥५०॥

अथ भद्रतरे लग्ने सुभद्रेण समर्पिताम् ।
क्षेमश्रियं पवित्रोऽयमुपयेमे यथाविधि ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ·—(अथ) इसके अनंतर (अयं पवित्र·) इन पवित्र जीवंधर स्वामीने (भद्रतरेलग्ने) शुभ लग्नमें (सुभद्रेण समर्पिताम्) सुभद्रसेठसे दी हुई (क्षेमश्रियं) क्षेमश्री नामकी कन्याको (यथा· विधि उपयेमे) विधि पूर्वक व्याहा ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्वादीभसिंह सूरि विरचिते क्षत्रचूडामणौ सान्वयार्थो क्षेमश्री लम्भो नाम षष्ठो लम्बः ॥
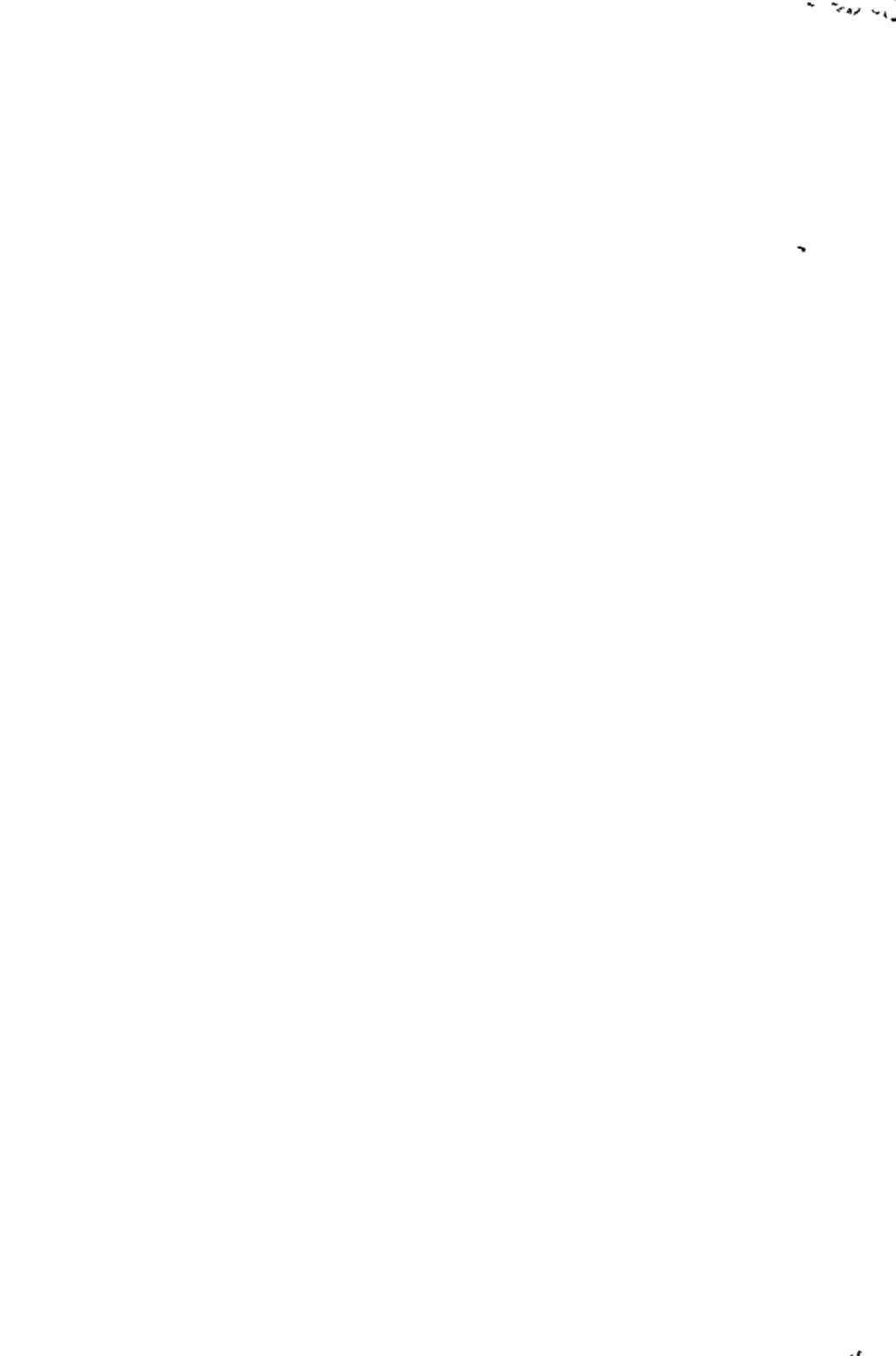
निश्चयसे (पाणिगृहीतीनां) विवाहता स्त्रियोंके (प्राणाः) प्राण (प्राण-नाथ·) उनके पति ही हैं (अपरं न) और कोई नहीं ॥ ३ ॥

सुभद्रोऽपि पवित्रं तमन्विष्याधिमयोऽभवत् ।
बहुयत्नोपलब्धस्य प्रच्यवो हि दुरुत्सहः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ —(सुभद्र अपि) सुभद्र नामके सेठ भी (तं पवित्रं) उन पवित्र जीवधर स्वामीको (अन्विष्य) ढूढकर उनके न मिलने पर (आधिमय अभवत्) मनमें अत्यन्त दुःखी हुए। अत्र नीति । (हि) निश्चयसे (बहु यत्नोपलब्धस्य) बहुत यत्नसे प्राप्त वस्तुका (प्रच्यव) हाथसे निकल जाना (दुरुत्सह) अतीव दुःखकर होता है ॥ ४ ॥

स्वामी स्वाभरणत्यागमैच्छद्गच्छन्नतुच्छधीः ।
विवेकभूषितानां हि भूषा दोषाय कल्पते ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ —(अतुच्छधी स्वामी) श्रेष्ठ बुद्धिवाले जीवधर स्वामीने (गच्छन्) जाते समय (स्वाभरण त्याग मैच्छत्) अपने आभूषणोंके देनेकी इच्छा की । अत्र नीति ! (हि) निश्चयसे (विवेक भूषितानां विवेक बुद्धिसे भूषित पुरुषोंके भूषा) भूषणा भरणादि (दोषाय) दोषके लिये ही (कल्पते) होते हैं ।५।

धार्मिकाय तदाकल्पं दातुं च समकल्पयत् ।
स्थाने हि बीजवद्दत्तमेकं चापि सहस्रधा ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(तदा) उसी समय (स) उन जीवधर स्वामीने (धार्मिकाय) धार्मिक पुरुषके लिये (आकल्पं) भूषणोंको (दातुं) देनेके लिये (समकल्पयत) संकल्प किया । अत्र नीति. ! (हि) श्चयसे (स्थाने) योग्य स्थानमें (बीजवत) बीजके सदृश (दत्तं

नम् भवति) छोटे आदमियोंके लिये राज्याभिषेकके समान होता है ॥ ९ ॥

इतस्ततो मया मह्य गम्यते कार्यकाम्यया ।
स्वास्थ्यं स्वास्थ्यतमं भूयात्कार्येऽप्यार्यदृशो मम ॥१०॥

अन्वयार्थः—(हे मह्य !)हे पूज्य ! (मया) मैं (कार्यकाम्यया) कार्यकी ईच्छासे (इतस्तत) इधरउधर (गम्यते) जारहा हूं । मम कार्ये)मेरे कार्यमें (आर्यदृशः) आपके दर्शनसे (स्वास्थ्यं) सुख (स्वास्थ्य तमं भूयात्) और भी अधिक सुख देनेवाला होवे ॥१०॥

इत्युक्तेन कुमारेण प्रत्युक्तो वृषलः पुनः ।
स्वास्थ्यं नाम न कृष्यादि जायमानं कृषीवल ॥११॥

अन्वयार्थ.—(इत्युक्तेन कुमारेण) इस प्रकार कहे हुए कुमारने (पुन वृषल. प्रत्युक्त) फिर उस शूद्र पुरुषसे कहा । कृषीवल !) हे किसान (कृष्यादि जायमानं) खेती आदि कर्मोंसे उत्पन्न सुख (न स्वास्थ्यं न म) सच्चा सुख नहीं है ॥ ११ ॥

षट्कर्मोपस्थितं स्वास्थ्यं तृष्णाबीजं विनश्वरम् ।
पापहेतुः परापेक्षि दुरन्तं दुःखमिश्रितम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ —(षट् कर्मोपस्थितं स्वास्थ्यं) असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या इन छह कर्मोंसे उत्पन्न सुख (तृष्णाबीजं) तृष्णाका कारण, (विनश्वरम्) नाशशील, (पापहेतु) पापका कारण (परापेक्षी) दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाला, (दुरन्तं) अन्तमें दुःख देनेवाला, (दु खमिश्रितम्) और दु खमे मिश्रित है ॥ १२ ॥

आत्मोत्थमात्मना साध्यमव्याबाधमनुत्तरम् ।
अनन्तं स्वास्थ्यमानन्दमतृष्णमपवर्गजम् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—(आत्मोत्थं स्वास्थ्यं) अपनी आत्मामें उत्पन्न हुआ सुख (आत्मना साध्यं) आत्माके द्वारा साध्य, (अव्याबाधं) बाधा रहित, (अनुत्तरं) सर्वोत्कृष्ट, (अनन्तं) अनन्त, (आनन्दं) आनन्द मय, (अतृष्णम्) तृष्णा रहित और (अपवर्गजम्) मोक्ष स्वरूप है ॥ १३ ॥

तदपि स्वपरज्ञाने याथात्म्यरुचिमात्रके ।
परित्यागे च पूर्णे स्यात्परमं पदमात्मनः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(तदपि) और यह (आत्मनः परमं पदं) आत्माका परम सुख (याथात्म्यरुचिमात्रके) यथार्थ रुचिरूप सम्यग्दर्शन, (स्वपरज्ञाने) स्व और परका भेद विज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान, (च) और (पूर्णेपरित्यागे) परिपूर्ण सम्यक्चारित्रके होने पर ही (स्यात्) होता है ॥ १४ ॥

त्वमपि ज्ञानदृक्सौख्यसामर्थ्यादिगुणात्मकम् ।
परं पुत्रकलत्रादि विद्धि गात्रमलं परैः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—(त्वं) और तू (त्वं) आत्माको (ज्ञानदृक्सौख्यसामर्थ्यादि गुणात्मकम्) अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यादिगुणात्मक (विद्धि) जान । और (पुत्रकलत्रादि परं विद्धि) पुत्र स्त्री आदिको पर जान । (परैः अलं) और तो क्या (गात्रमपि पर विद्धि) अपने शरीरको भी पर जान ॥ १५ ॥

एवं भिन्नस्वभावोऽयं देही स्वस्त्वेन देहवान् ।
बुध्यते पुनरज्ञानादतो देहेन बध्यते ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(परित्यागकृतः) परवस्तुके त्याग करनेवाले (सानगारा) अनगार (मुनि) सहित (अगारिण) गृहस्थी श्रावक (ज्ञेयाः) जानने चाहिये । अर्थात् त्यागी दो प्रकारके होते हैं १ यति २ श्रावक । (पूर्वे) पूर्वके त्यागी मुनि (सर्वसावद्यवर्जित) सम्पूर्ण पापोंसे रहित (गात्रमात्रधना सन्ति शरीर मात्र परिग्रह रखनेवाले होते हैं अर्थात् शरीरको छोडकर दूसरा कोई उनके परिग्रह नहीं होता ॥ १९ ॥

मूलोत्तरादिकान्वोढुं त्वं न शक्तो हि तद्गुणान् ।
न हि वारणपर्याणं भर्तुं शक्तो वनायुजः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ —(हि) निश्चयसे (त्वं) तू (मूलोत्तरादि कान् तद्गुणान्) मूल गुण और उत्तर गुण रूप उनके गुणोंको (वोढुं) धारण करनेके लिये (न शक्त) समर्थ नहीं है । अत्र नीति । (हि) निश्चयसे (वनायुज) पारसी देशका सवारीका घोडा (वारण पर्याणं) हाथीके पला-नको (भर्तुं) धारण करनेके लिये (न शक्त) समर्थ नही है ॥ २० ॥

अतस्त्वमधुना धर्मं गृहाण गृहमेधिनाम् ।
न ह्यारोढुमधिश्रेणि यौगपद्येन पार्यते ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ —(अत) इस लिये (अधुना) इस समय (त्वं) तू (गृहमेधिनाम) गृहस्थोंके (धर्मं) धर्मको (गृहाण) स्वीकार कर। अत्र नीति । (हि) निश्चयसे (यौगपद्येन) एक ही साथ (अधिश्रेणि) ऊंची नसैनीको (आरोढुं) आरोहण करनेके लिये (न पार्यते) कोई भी समर्थ नहीं है ॥ २१ ॥

त्रिचतुःपञ्चभिर्युक्ता गुणशिक्षाणुभिर्व्रतैः ।
तत्त्वधीरुचिसंपन्नाः सावद्या गृहमेधिनः ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(त्रिचतुःपञ्चभि) क्रमसे तीन, चार, पांच, (गुणशिक्षाणुभि व्रतैः) गुणव्रत, शिक्षाव्रत और अणुव्रतोंसे (युक्ता) सहित (तत्त्वधीरुचिसंपन्नाः) सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन सम्पन्न (सावद्या) कुछ दोष सहित (गृहमेधिनः संति) गृहस्थ पुरुष होते हैं ॥ २२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं स्वस्त्रीमितवसुग्रहौ ।
मद्यमांसमधुत्यागैस्तेषां मूलगुणाष्टकम् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ— (तेषां) उन गृहस्थ पुरुषोंके (मद्यमांसमधुत्यागैः सह) मद्यत्याग, मांसत्याग और मधुत्याग सहित (अहिंसा) हिंसा न करना, (सत्यं) सत्य बोलना, (अस्तेयं) चोरी न करना, (स्वस्त्रीमितवसुग्रहौ) स्वस्त्री सन्तोष और परिमित परिग्रह रखना (मूलगुणाष्टकम्) यह आठ मूलगुण कहलाते हैं ॥ २३ ॥

भोगोपभोगसंख्यानं [illegible] नर्थदण्डव्रतान्वितः ।
गुणानुबृंहणाद् [illegible] दिग्व्रतेन गुणव्रतम् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ— (गुणानुबृंहणात्) मूल गुणोंकी वृद्धि करनेसे [illegible] (भोगोपभोगसंख्यानं) [illegible] दिग्व्रत सहित यह तीन (गुणव्रतम्) [illegible] ॥ २४ ॥

[illegible] सामायिकं च ।

[illegible] ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः—(वैयावृत्य) वैयावृत्य (सप्रोषधोपवासेन) प्रोषधोपवास सहित (सामायिकेन) सामायिक (च) और (देशावकाशिकेन) देशावकाशिक व्रतके साथ (शिक्षकम् व्रतं स्यात्) यह चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं । २५ ॥

परिच्छिन्नदिशि प्राप्तिं त्यागं निष्फलदुष्कृतेः ।
मितान्नस्त्र्यादिकत्वं च कृत्यं विद्धि गुणव्रते ॥२६॥

अन्वयार्थ — गुणव्रते) गुणव्रतमें (परिच्छिन्नदिशि प्राप्ति) मर्यादित दिशाओंमें जाना (निष्फलदुष्कृते) और निष्प्रयोजन पापोंका (त्यागं) त्याग च) और (मितान्नस्त्र्यादिकत्वं) परमित अन्न स्त्री आदि भोगोपभोग पदार्थोंका सेवन (इतिकृत्य) यह तीन कार्य (विद्धि) जानो ॥ २६ ।

सञ्चारस्यावधिर्नित्यं सचिन्ता चात्मभावना ।
दानाद्यैरुपवासश्च पर्वादिष्वन्यतः कृती ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ —(अन्यत) शिक्षाव्रतमें (सञ्चारस्य नित्य अवधि) गमनकी नित्य मर्यादा करना, (सचिन्ता आत्मभावना) सब जीवोंमें समतादि भावों सहित आत्माका चितवन करना (च) और (दानाद्यैः) मुनि दानादि सहित पर्वादिषु उपवास, अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें उपवास करना ही (कृती) कृत्य जानो ॥२७।

अणुव्रती व्रतैरेतैः क्वचिद्देशे क्वचित्क्षणे ।
महाव्रती भवेत्तस्मादग्राह्यं धर्ममगारिणाम् ॥२८॥

अन्वयार्थ—(अणुव्रती) अणुव्रती श्रावक (एतैः व्रतैः) इन बारह व्रतोंसे (क्वचिद्देशे) किसी देश (क्वचित्क्षणे) व किसी

लाभसे (पिप्रिये) अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अत्र नीतिः! (हि) निश्चयसे (संसृतौ) संसारमें जीवोंको (तादात्विकसुख प्रीतिः) तात्कालिक विषय सुखोंकी प्रीति (विशेषतः भवति) विशेष रीतिसे होती है ॥ २१ ॥

भावार्थः—संसारमें जीवोंको विषय सुख मिलने पर उस समय बहुत आनन्द होता है ॥ २१ ॥

तं विसृज्य ततः स्वामी तस्य स्मृत्वैव निर्ययौ ।
प्रत्यक्षे च परोक्षे च सन्तो हि समवृत्तिकाः ॥२२॥

अन्वयार्थः—(ततः) इसके अनंतर (स्वामी) जीवंधर स्वामी (तं विसृज्य) उसको छोड़कर (तस्य स्मृत्वा एव) उसका स्मरण करते हुए ही वहांसे (निर्ययौ) चल पड़े। अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (सन्तः) सज्जन पुरुष (प्रत्यक्षे) सम्मुख (च) और (परोक्षे) पीठ पीछे दोनों अवस्थाओंमें (समवृत्तिकाः भवंति) एकसा व्यवहार करनेवाले होते हैं ॥ २२ ॥

अथारण्ये क्वचिच्छ्रान्तो निषण्णो निरुपद्रवः ।
शरण्यं सर्वजीवानां पुण्यमेव हि नापरम् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः—(अथ) इसके अनंतर (श्रान्तः) थके हुए (क्वचित् अरण्ये) किसी वनमें (निरुपद्रवः) उपद्रव रहित (निषण्णः) होकर बैठ गये। अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (पुण्यं एव सर्वजीवानां) पुण्य ही सब जीवोंका (शरण्यं) रक्षक है (अपरं न) और कोई नहीं ॥ २३ ॥

(विभाव्य) जानकर (व्यरज्यत) उससे विरक्त होगये । अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (अज्ञाना) मूर्ख पुरुषोंके (अनुरागकृत् वस्तु) अनुरागके करनेवाली वस्तु (वशिना) जितेन्द्रिय पुरुषोंके (विरक्तये) विरागके लिये (भवति) होती है ॥ २६ ॥

पृथक्चेदङ्गनिर्माणं चर्ममांसमलादिकम् ।
सजुगुप्सेऽत्र तत्पुञ्जे मूढात्मा हन्त मुह्यति ॥२७॥

अन्वयार्थ —(चेत्) यदि (अङ्गनिर्माणं पृथक् स्यात्) शरीरकी रचना पृथक् पृथक् होवे तो फिर (चर्ममांसमलादिकम्) चमड़ा, मांस और मलादिकको (विहाय) छोड़कर (अन्यत्) और कुछ भी (अवशिष्टं न भवेत्) शेष न रहे । (हन्त !) बड़े खेदकी बात है ! कि तो भी (मूढात्मा) मूर्ख अज्ञानी पुरुष (सजुगुप्से) घृणा सहित (तत्पुञ्जे अत्र) चमड़ा और मांसादिके ढेर रूप इस शरीरमें (मुह्यति) मोहित होते हैं ॥ २७ ॥

दुर्गन्धमलमांसादिव्यतिरिक्तं विवेचने ।
नेक्षते जातु देहेऽस्मिन्मोहः को हेतुरात्मनाम् ॥२८॥

अन्वयार्थ —(विवेचने सति) भली भांति विचार करने पर (अस्मिन् देहे) इस शरीरमें (दुर्गन्धमलमांसादिव्यतिरिक्तं) दुर्गन्ध मल मांसादिके सिवाय (जातु न ईक्षते) और कुछ कभी दिखाई नहीं देता (तदपि) तो भी (आत्मनां) जीवोंको (अस्मिन्मोहे) इसमें मोह करनेमें (कः हेतुः) क्या हेतु है ॥ २८ ॥

अज्ञानमनुवर्त्यैव ज्ञात्वा न्याय्यं न चेष्टते ।
[illegible] ॥

अन्वयार्थ.—(तत्तस्मात्) इसलिये (पापभीरुणा) पापसे डरनेवाले पुरुषोंको (बालया) जवान कन्यासे (वृद्धया) वृद्ध स्त्रीसे (मात्रा) मातासे (वा) अथवा (दुहित्रा) पुत्रीसे और (व्रतस्थया) व्रत पालन करनेवाली श्राविकासे (संलापवासहासादि) बोलना, साथमें रहना, और हंसी आदिक करना (वर्ज्यं) छोड़ देना चाहिये ॥ ४२ ॥

इति वैराग्यतर्केण ततो यातुं प्रचक्रमे ।
भेतव्यं खलु भेतव्यं प्राज्ञैरज्ञोचितात्परम् ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—(इति वैराग्यतर्केण) इस प्रकार वैराग्योत्पादक विचारसे जीवंधर स्वामी (ततः) वहांसे (यातुं) जानेके लिये (प्रचक्रमे) तैयार हुए । अत्र नीति : (खलु) निश्चयसे (प्राज्ञैः) बुद्धिमान पुरुषोंको (अज्ञोचितात्) मूर्ख पुरुषोंके करने योग्य कार्योंसे (परम्) अत्यन्त (भेतव्य भेतव्यं) डरना चाहिये ॥४३॥

विरक्तमेव रक्ता सा निश्चिकाय विपश्चितम् ।
निसर्गादिङ्गितज्ञानमङ्गनासु हि जायते ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ —(रक्ता सा) आसक्त उस स्त्रीने (विपश्चितम्) पंडित जीवंधरकुमारको अपनेमें (विरक्तं एव) अत्यन्त विरक्त (निश्चिकाय) निश्चय किया । अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (अङ्गनासु) स्त्रियोंमें (इङ्गित ज्ञानं) शरीरकी चेष्टासे मनके भावोंको जान लेनेका ज्ञान (निसर्गात् एव जायते) स्वभावसे ही उत्पन्न होता है ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थः—(अज्ञानम्) अज्ञान स्वरूप (अशुचे. बीजं) अपवित्र मल मूत्रादिकका कारण (व्यूढं) तर्कना रहित विचार शून्य (देहकम्) शरीरको (ज्ञात्वा अपि) जानकरके भी (अत्र सस्पृहः) इसमें इच्छा सहित (आत्मा) आत्मा (आत्मनः कर्माधीनत्वं वक्ति) अपने कर्माधीन पनेको कथन करता है ॥ ३९ ॥

मदीयं मांसलं मांसममीमांसेयमङ्गना ।
पश्यन्ती पारवश्यान्धा ततो याम्यात्मनेऽथवा ॥४०॥

अन्वयार्थः—(अमीमासा) विचारशून्य (इयं अङ्गना) यह स्त्री (मासलं मदीयं मासं) वलवान् पुष्ट मेरे मांस (शरीर) को (पश्यन्ती) देखकर (पारवश्यान्धा) कामकी पराधीनतासे अंध (जाता) होगई । (तत) इसलिये (अथवा) अथवा (आत्मने) अपनी आत्माके हितके लिये (अयामि) मै जाता हूं ॥ ४० ॥

अङ्गारसदृशी नारी नवनीतसमा नरा. ।
तत्तत्सांनिध्यमात्रेण द्रवेत्पुंसां हि मानसम् ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ —(नारी) स्त्री (अङ्गार सदृशी) जलते हुए कोयलेके समान है और (नरा) मनुष्य (नवनीत समाः) नैनू अर्थात् तुरत निकले हुए घीके समान होते है (तत्तस्मात्) इसलिये (हि) निश्चयसे (तत् सानिध्यमात्रेण) स्त्रियोकी समीपता मात्रसे ही (पुंसा) पुरुषोंका (मानसम्) हृदय (द्रवेत्) पिघल जाता है॥४१॥

संलापहासहासादि तद्वर्ज्यं पापभीरुणा ।
बालया वृद्धया मात्रा दुहित्रा वा व्रतस्थया ॥४२॥

अन्वयार्थ.—(तत्तस्मात्) इसलिये (पापभीरुणा) पापसे डरनेवाले पुरुषोंको (बालया) जवान कन्यासे (वृद्धया) वृद्ध स्त्रीसे (मात्रा) मातासे (वा) अथवा (दुहित्रा) पुत्रीसे और (व्रतस्थया) व्रत पालन करनेवाली श्राविकासे (संलापवासहासादि) बोलना, साथमें रहना, और हंसी आदिक करना (वर्ज्यं) छोड़ देना चाहिये ॥ ४२ ॥

इति वैराग्यतर्केण ततो यातुं प्रचक्रमे।
भेतव्यं खलु भेतव्यं प्राज्ञैरज्ञोचितात्परम् ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—(इति वैराग्यतर्केण) इस प्रकार वैराग्योत्पादक विचारसे जीवंधर स्वामी (ततः) वहांसे (यातुं) जानेके लिये (प्रचक्रमे) तैयार हुए। अत्र नीतिः ! (खलु) निश्चयसे (प्राज्ञैः) बुद्धिमान पुरुषोंको (अज्ञोचितात्) मूर्ख पुरुषोंके करने योग्य कार्योंसे (परम्) अत्यन्त (भेतव्य भेतव्यं) डरना चाहिये ॥४३॥

विरक्तमेव रक्ता सा निश्चिकाय विपश्चितम्।
निसर्गादिङ्गितज्ञानमङ्गनासु हि जायते ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ.—(रक्ता सा) आसक्त उस स्त्रीने (विपश्चितम्) पंडित जीवंधरकुमारको अपनेमें (विरक्त एव) अत्यन्त विरक्त (निश्चिकाय) निश्चय किया। अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (अङ्गनासु) स्त्रियोंमें (इङ्गित ज्ञानं) शरीरकी चेष्टासे मनके भावोंको जान लेनेका ज्ञान (निसर्गात् एव जायते) स्वभावसे ही उत्पन्न होता है ॥ ४४ ॥

वे (रागान्धाः) रागसे अन्धे पुरुष (कथं) कैसे (न शोच्याः) शोचनीय नहीं होते । अर्थात् शोचनीय होते ही हैं ॥ ९० ॥

उदन्योपद्रुतामत्र मान्य भार्यां पतिव्रताम् ।
पानीयार्थमवस्थाप्य नाद्राक्षं प्रस्थितागतः ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थः—(मान्य !) हे माननीय ! (अहं) मैं (उदन्योपद्रुतां) प्याससे व्याकुल (पतिव्रताम् भार्यां) पतिव्रता अपनी स्त्रीको (अत्र) यहां पर (अवस्थाप्य) विठला कर (पानीयार्थं) पानीके लिये (प्रस्थितागतः) जाकर आया हुवा (न अद्राक्षम्) नहीं देखता हूं ॥ ९१ ॥

विद्याप्यविद्यमानेव मम विद्याधरोचिता ।
मर्त्योत्तम भवानत्र कर्तव्यं कथयेदिति ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थ —(मर्त्योत्तम !) हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ ! (मम) मेरी (विद्याधरोचिता) विद्याधरोंके लिये उचित (विद्या अपि) बुद्धि भी (अविद्यमाना इव) अविद्यमानके सदृश हो गई। अर्थात् स्त्रीके वियोगसे मैं अपनी सब विद्याएँ भूल गया । (भवान्) आप (अत्र) इस विषयमें (कर्तव्यं) करने योग्य उपायको (कथयेत्) कहिये ॥ (इति) ऐसा उस विद्याधरने कहा ॥ ९२ ॥

पुरन्ध्रीष्वतिसंधानादभैषीदभयंकरः ।
वचनीयाद्धि भीरुत्वं महतां महनीयता ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ —(अभयंकरः) भय नहीं करनेवाले जीवंधर कुमार (पुरन्ध्रीषु) स्त्रियोंमें (अतिसंधानात्) अत्यन्त प्रेम करनेसे (अभैषीत्) डर गये । अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे

(वचनीयात् भीरुत्वं) निंदनीक, बुरी बातोंसे डरपोकपना (महतां) बड़े पुरुषोंका (महनीयता) बड़प्पन है ॥ ५३ ॥

नभश्चरं पुनश्चैनं सविपश्चिदबोधयत्।
अपश्चिमफलं वक्तुं निश्चितं हि हितार्थिनः ॥५४॥

अन्वयार्थः—(पुनः) फिर (स विपश्चिद्) उन पण्डित जीवंधरने (एनं नभश्चरं) इस विद्याधरको (अबोधयत्) समझाया। अत्र नीति ! (हि) निश्चयसे (हितार्थिनः) दूसरोंका हित करनेवाले पुरुष (निश्चितम्) निश्चयसे (अपश्चिम फलं) सर्वोत्तम है फल जिसका ऐसी बातको (वक्तुं) कहनेके लिये (इच्छंति) इच्छा करते हैं ॥ ५४ ॥

भवदत्त क्षुधार्तोऽसि विद्यावित्तो भवन्नपि।
न विद्यते हि विद्यायामगम्यं रम्यवस्तुषु ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ —(भवदत्त हे भवदत्त ! त्वं) तू (विद्यावित्त) विद्यारूपी धनवाला (भवन् अपि होता हुआ भी क्यों (क्षुधा) क्षुधासे (आर्तः असि) दुःखी हो रहा है। अत्र नीति ! (हि) निश्चयसे विद्यायां सत्यां विद्याके होने पर (रम्य वस्तुषु सुंदर पदार्थोंमें (अगम्यं) दुष्प्राप्य (न विद्यते) कुछ भी नहीं है ॥५५॥

नभश्चर न कश्चित्स्यात्विपश्चिदविपश्चितोः।
विनिश्चलशुभाभेदो यतश्चल कुतश्चन ॥ [illegible] ॥

अन्वयार्थ —(नभश्चर ! हे विद्याधर (यतश्च कुतश्चन) इधर उधरसे (विज्ञौ मन्दौ) [illegible] [illegible] पर (विनिश्चल शुभे) निश्चल रहना और शोक करना इनके सिवाय (अ-

अविपश्चितोः) विद्वान् और मूर्खमें (कश्चित् भेदः न) और कुछ भी भेद नहीं है ॥ ९६ ॥

परं सहस्रधीभाजि स्त्रीवर्गे का पतिव्रता ।
पातिव्रत्यं हि नारीणां गत्यभावे तु कुत्रचित् ॥९७॥

अन्वयार्थः—(परं) केवल (सहस्रधीभाजिस्त्रीवर्गे) हजारों प्रकारकी बुद्धिको करनेवाली स्त्री समूहमें (का पतिव्रता) पातिवृत्य धर्म कहांसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता (हि) निश्चयसे (कुत्रचित्) कहीं पर (गत्यभावे तु) जाने आनेके अभावमें ही (नारीणां पातिवृत्यं भवेत्) स्त्रियोंका पातिवृत्यपना रह सक्ता है ॥ ९७ ॥

मदमात्सर्यमायेर्ष्यारागरोपादिभूपिताः ।
असत्याशुद्धिकौटिल्यशाठ्यमौढ्यघनाः स्त्रियः ॥९८॥

अन्वयार्थः—(स्त्रियः) स्त्रियां (मदमात्सर्यमायेर्ष्यारागदोषादि भूपिताः) घमंड, डाह, छल कपट, प्रीति, विरोध और क्रोध इनसे भूपित और (असत्याशुद्धिकौटिल्यशाठ्यमौढ्यघनाः) झूठ, अपवित्रता, कुटिलता, शठता और मूर्खता ये है धन जिसके ऐसी होती है ॥ ९८ ॥

निर्घृणे निर्द्रवे क्रूरे निर्व्यवस्थे निरङ्कुशे ।
पापे पापनिमित्ते च कलत्रे ते कुतः स्पृहा ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थः—(निर्घृणे) घृणा रहित, (निर्द्रवे) दया हीन, (क्रूरे) दुष्ट (निर्व्यवस्थे) अव्यवस्थित, (निरङ्कुशे) स्वतन्त्र, (पापे) पाप रूप (च) और (पाप निमित्ते) पापकी कारणी भूत (कलत्रे) स्त्रीमें (ते स्पृहा) तेरी इच्छा (कुतः भवेत्) कैसे होती है ॥९९॥

इत्युपादिष्टमेतस्य हृदये नासजत्तराम् ।
जठरे सारमेयस्य सर्पिषो न हि सञ्जनम् ॥ ६० ॥

अन्वयार्थः—(इति उपादिष्टं) इस प्रकार यह उपदेश (एतस्य हृदये) इस विद्याधरके मनमें (न असजेत्तराम्) नहीं लगा। अर्थात् उसके हृदयमें जीवंधर स्वामीके उपदेशने कुछ भी असर नहीं किया। अत्र नीति। (हि) निश्चयसे (सारमेयस्यजठरे) कुत्तेके पेटमें (सर्पिषो सञ्जनं न भवति) घीका ठहरना नहीं होता है। ॥ ६० ॥

स्वामी तु तस्य मौढ्येन सुतरामन्वकम्पत ।
उत्पथस्थे प्रवुद्धानामनुकम्पा हि युज्यते ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ — (तु) किन्तु (स्वामी) जीवंधर स्वामी (तस्य) उसकी (मौढ्येन) मूर्खता पर (सुतरा) स्वयं (अन्वकम्पत) अत्यंत दयायुक्त हुए। अत्र नीतिः। (हि) निश्चयसे (उत्पथस्थे) खोटे मार्गमें चलने वाले मनुष्यों पर (प्रवुद्धानां) बुद्धिमान पुरुषोंका (अनुकम्पा) दया करना ही (युज्यते) युक्त है ॥ ६१ ॥

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य कमप्यारामम् आश्रयत् ।
अदृष्टपूर्वदृष्टौ हि प्रायेणोत्कण्ठते मनः ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थः—(ततः) इसके अनंतर (तस्मात्) उस स्थानसे (विनिर्गत्य) निकलकरके जीवंधर स्वामीने (कमपि) किसी (आरामं) वगीचेको (आश्रयत्) प्राप्त किया। अर्थात्—वे किसी वगीचेमें पहुंचे। अत्र नीतिः। (हि) निश्चयसे (अदृष्टपूर्वदृष्टौ) पहले नहीं देखी हुई वस्तुके देखनेमें (प्रायेण) बहुत करके (मन उत्कंठते) मन उत्कंठित हुआ करता है ॥ ६२ ॥

तत्राम्रफलमाकष्टुं धनुषा कोऽपि नाशकत् ।
अशक्तैः कर्तुमारब्धं सुकरं किं न दुष्करम् ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ —(तत्र) उस बगीचेमें (कः अपि) उस देशके राज कुमारोंमेंसे कोई भी राजकुमार (धनुषा) धनुषसे (आम्रफलं) किसी भी आम्र फलको आकष्टुं गिरानेके लिये (न अशकत्) समर्थ नहीं हुआ । अत्र नीतिः । (हि) निश्चयसे (अशक्तैः) असमर्थ पुरुषोंसे (कर्तुं आरब्धं) करनेके लिये आरंभ किया हुआ (सुकरं) सरल काम भी (किं दुष्करम् न) क्या दुःसाध्य नहीं होता है किन्तु दुःसाध्य होता ही है ॥ ३३ ॥

स्वामी तु तत्फलं विद्धमादत्त सशिलीमुखम् ।
तत्तन्मात्रकृतोत्साहैः साध्यते हि समीहितम् ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(तु) परन्तु (स्वामी) जीवंधर स्वामीने (विद्धतत्फलं) बाणसे छेदित उस फलको (सशिलीमुखम्) बाण सहित (आदत्त) ग्रहण कर लिया । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (तत्तन्मात्र कृतोत्साहैः) प्रत्येक कार्यमें उत्साह व निपुणता युक्त पुरुष ही (समीहितम्) इच्छित कार्यको (साध्यते) सफल कर लिया करते हैं ॥ ३४ ॥

अपराद्धपृषत्कोऽपि दृष्ट्वा व्यस्मेष्ट तत्कृतिम् ।
अपदानमशक्तानामद्भुताय हि जायते ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(अपराद्धपृषत्कोऽपि) लक्ष्यसे च्युत है बाण जिसका ऐसा कोई राजकुमार भी (तत्कृतिम् दृष्ट्वा) जीवंधर स्वामीकी बाण निपुणताको देखकर (व्यस्मेष्ट) अत्यंत आश्चर्य युक्त

(विधिः) कर्म (देहिनः) देहधारी मनुष्योंको (स्वयमेव) अपने आप ही (इष्टार्थैः) इष्ट पदार्थोंसे (घटयति) सम्बन्ध करा देता है ॥ ७१ ॥

पार्थिवं च ततः पश्यंस्तद्वश्योऽभूच्च संमतेः।
अनुसारप्रियो न स्यात्को वा लोके सचेतनः ॥७२॥

अन्वयार्थः—(ततः) तदनंतर जीवंधर कुमार (पार्थिवं पश्यन्) राजाको देखकर (संमतेः) उनके आदर सन्मान करनेसे (तद्वश्यः) उनके वशीभूत (अभूत्) हो गये। अत्र नीतिः! (हि) निश्चयसे (लोके) लोकमें (को वा) कौन (सचेतनः) सचेतन प्राणी (अनुसारप्रियः न स्यात्) अपने अनुकूल मनुष्यमें प्रेम करनेवाला नहीं होता है ॥ ७२ ॥

महीक्षिता क्षणात्तस्य माहात्म्यमपि वीक्षितम्।
वपुर्वक्ति हि सुव्यक्तमनुभावमनक्षरम् ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थः—(महीक्षिता अपि) राजाने भी (क्षणात्) क्षणमात्रमें (तस्य माहात्म्य) उसका माहात्म्य अर्थात् बड़प्पन (वीक्षितम्) देख लिया अत्रनीतिः। (हि) निश्चयसे (वपुः) शरीर (अनुभावं) मनुष्यके प्रभावको (अनक्षरम्) विना शब्द कहे हुए ही (सुव्यक्तं) स्पष्ट (वक्ति) कथन कर देता है ॥ ७३ ॥

सुतविद्यार्थमत्यर्थं पार्थिवस्तमयाचत ।
आराधनैकसंपाद्या विद्या न ह्यन्यसाधना ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थः—(पार्थिवः) राजाने (सुतविद्यार्थं) अपने पुत्रोंको विद्या सिखानेके लिये (तं) उनसे (अत्यर्थं) अत्यन्त (या...

अन्वयार्थः—(ते) वे राजकुमार (प्रश्रयेण) जीवंधर गुरुकी विनय करनेसे (प्रत्यक्षाचार्य रूपकाः बभूवुः) धनुष विद्यामें साक्षात् जीवंधर स्वामीके समान होगये। अत्र नीतिः। (खलु) निश्चयसे (गुरुणां विनयः) यथार्थ गुरुका विनय (विद्यानां) विद्याओंको (दोग्ध्री) देनेवाली (सुरभिः) सच्ची कामधेनु है ॥ ७७ ॥

वीक्ष्य तानतृपद्भूपो विद्यानां पारदृश्वनः
पुत्रमात्रं मुदे पित्रोर्विद्यापात्रं नु किं पुनः ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थः—(भूपः) राजा (विद्यानां पारदृश्वनः) विद्यामें पारगामी (तान्) उन पुत्रोंको (वीक्ष्य) देखकर (अतृपत्) अत्यन्त प्रसन्न हुए। अत्र नीतिः। ठीक ही है (पित्रोः) माता पिताको (पुत्र मात्रं) पुत्र मात्र ही (मुदे) हर्षके लिये होता है फिर यदि वह (विद्यापात्रं) विद्याका पात्र हो तो (किं पुनः वक्तव्यं) फिर कहना ही क्या है ॥ ७८ ॥

अतिमात्रं पवित्रं च धात्रिपः समभावयत् ।
असंभावयितुर्दोषो विदुषां चेदसंमतिः ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थः—फिर (धात्रिपः) राजाने (पवित्रं) पवित्र जीवंधर स्वामीका (अतिमात्रं) अत्यंत (समभावयत्) सन्मान किया (चेत्) यदि (विदुषां) विद्वानोंका (असंमतिः न स्यात्) सन्मान न होवे तो (असंभावयितुः) इसमें सन्मान नहीं करनेवालेका ही (दोषः) दोष है ॥ ७९ ॥

महोपकारिणः किं वा कुर्यामित्यप्यनर्कयत् ।
विद्याप्रदायिनां लोके का वा स्यात्प्रत्युपक्रिया ।

अन्वयार्थः—(ततः) इसके अनंतर (अयं पवित्रः) इन पवित्र जीवंधर स्वामीने (राज्ञा समर्पितान्) राजासे प्रदान की हुई (पवित्रां) पवित्र (कनकमालाख्यां) कनकमाला नामकी (कन्यां) कन्याको (अग्निसाक्षिकम्) अग्निकी साक्षी पूर्वक (पर्यणैषीत्) व्याहा ॥ ८३ ॥

इति श्रीमद्वादीभसिंह सूरि विरचिते क्षत्रचूडामणौ सान्वयार्थ. कनकमाला लम्भो नाम षष्ठमो लम्बः ॥

अन्वयार्थः—(महोपकारिणः) महान् उपकारी (अस्य) इसका (अहं किं वा कुर्याम्) मैं क्या उपकार करूं (इति सः अतर्कयत्) इस प्रकार उसने विचार किया। अत्र नीतिः। (हि) निश्चयसे (लोके) इस संसारमें (विद्याप्रदायिना) विद्यादान करनेवालोंका (का वा) क्या (प्रत्युपक्रिया) प्रत्युपकार (स्यात्) हो सकता है ॥८०॥

कन्याविश्राणनं तस्मै करणीयमजीगणत् ।
शक्यमेव हि दातव्यं सादरैरपि दातृभिः ॥८१॥

अन्वयार्थः—फिर (सः) उस राजाने (तस्मै) उन जीवंधर कुमारके लिये (कन्याविश्राणनं) अपनी कन्याका दे देना (करणीयं) कर्तव्य (अजीगणत्) निश्चय किया। अत्रनीतिः। (हि) निश्चयसे (सादरैः) आदर सहित (दातृभिः) दाताओंको (अपि) भी (शक्यमेव) अपने लिये शक्य ही (दातव्यं) दान करना चाहिये ॥८१॥

अभ्युपाजीगमत्पुत्रीं परिणेतुममुं पुनः ।
उदाराः खलु मन्यन्ते तृणायेदं जगत्त्रयम ॥८२॥

अन्वयार्थ —(पुनः) फिर वह राजा (पुत्रीं परिणेतुं) पुत्रीको ब्याह देनेके लिये (अमुम्) जीवंधर स्वामीके पास (अभ्युपाजीगमत्) आया। अत्र नीतिः। (खलु) निश्चयसे (उदाराः) उदार पुरुष (इदं जगत्त्रयम्) इस जगत्त्रयको (तृणाय) तृणके समान (मन्यन्ते) मानते हैं ॥ ८२ ॥

ततः कनकमालाख्यां कन्यां राज्ञा समर्पिताम् ।
नवेगन्धर्वादिविज्ञोऽयं परिणिनायाग्निसाक्षिकम ॥८३॥

अन्वयार्थ.—(तत.) इसके अनंतर (अयं पवित्रः) इन पवित्र जीवंधर स्वामीने (राज्ञा समर्पितान्) राजासे प्रदान की हुई (पवित्रा) पवित्र (कनकमालाख्यां) कनकमाला नामकी (कन्यां) कन्याको (अग्निसाक्षिकम्) अग्निकी साक्षी पूर्वक (पर्यणैपीत्) ब्याहा ॥ ८२ ॥

इति श्रीमद्वादीभसिंह सूरि विरचिते क्षत्रचूडामणौ सान्वयार्थ कनकमाला लम्भो नाम सप्तमो लम्ब ॥

अन्वयार्थः—(यापितः अपि) बीते हुए भी (महाकालः) बहुत समयने (तस्य) उस जीवंधर कुमारके (उद्वेगः) कुछ भी खेद भाव (न आतनोत्) नहीं किया। अत्र नीतिः! (हि) निश्चयसे (वत्सलैः सह) प्रेमियोंके साथ (संवासे) रहनेमें (वत्सरः अपि) एक वर्ष भी (क्षणायते) क्षणके समान बीत जाता है ॥ ३ ॥

कदाचित्कापि तत्प्रान्तं समन्दस्मितमासदत् ।
नैसर्गिकं हि नारीणां चेतः संमोहि चेष्टितम् ॥४॥

अन्वयार्थः—(कदाचित्) एक दिन (कापि) कोई स्त्री (तत्प्रान्तं) उनके समीप (समन्दस्मितम्) कुछ हंसती हुई (आसदत्) पहुंची (अत्र नीतिः)! (हि) निश्चयसे (नारीणां) स्त्रियोंकी (चेष्टितम्) चेष्टाएं (नैसर्गिकम्) स्वभावसे ही (चेतः संमोहि) चित्तको मोहित करनेवाली होती हैं ॥ ४ ॥

अप्राक्षीत्तां च साकूतां किमायातेति सादरः ।
विवक्षालिङ्गितं हि स्यात्प्रष्टुः प्रश्नकुतूहलम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—(सादरः कुमारः) आदर सहित कुमारने "(किम् आयाता) तुम यहां क्यों आई" (इति) इस प्रकार (साकूतां तां) किसी मतलबसे आई हुई उस स्त्रीसे (अप्राक्षीत्) पूछा। अत्र नीतिः! (हि) निश्चयसे (प्रष्टुः) पूछनेवालेका (प्रश्नकुतूहलम्) प्रश्नमें कुतूहल (विवक्षालिङ्गितम्) कुछ कहनेकी इच्छासे युक्त (स्यात्) होता है ॥ ५ ॥

अत्र चायुधशालायां चैकदैवाविरोपतः ।
स्वामिन्स्वामिनमद्राक्षमित्यसौ प्रत्यभाषत ॥ ६

अन्वयार्थः—(असौ) उस स्त्रीने "(स्वामिन् !) हे स्वामी! (अत्र) यहां पर (च) और (आयुधशालायां) आयुधशालामें (एकदा एव) एक ही समयमें (स्वामिनं) आपको (अविशेषतः) एक रूपसे (अद्राक्षम्) देखा है" (इति) इस प्रकार (प्रत्यभाषत) प्रत्युत्तर दिया ॥ ६ ॥

अतिमात्रं पवित्रोऽयमचित्रीयत तत्कृतेः ।
अयुक्तं खलु दृष्टं वा श्रुतं वा विस्मयावहम् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(अयं पवित्रः) पवित्र जीवंधर कुमार (तत्कृतेः) उसकी बात सुननेसे (अतिमात्रं) अत्यन्त (अचित्रीयत) आश्चर्य युक्त हुए। अत्र नीतिः (खलु) निश्चयसे (दृष्टं) देखी हुई (वा) अथवा (श्रुतं वा) सुनी हुई (अयुक्तं) अनहोनी बात (विस्मयावहम्) आश्चर्य करनेवाली होती है ॥ ७ ॥

नन्दाढ्यः किमिहायात इत्ययं पुनरौहत ।
संसारविषये मन्त्रः स्वैरा हि मनसो गतिः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—(पुनः) फिर (अयं) उन जीवंधर कुमारने "(किम्) क्या (इह) यहां (नन्दाढ्यः) मेरा छोटा भाई नन्दाढ्य (आयातः) आ गया है" (इति) इस प्रकार (औहत) विचार किया। अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (संसारविषये) संसारके विषयोंमें (मनसो गतिः) मनकी प्रवृत्ति (मन्त्रः) शीघ्र ही (स्वैरं) अपने आप (स्वैरा) हो जाती है ॥ ८ ॥

प्रागेव नन्दनोऽनङ्गः प्रणयी तत्र तत्कृतः ।
आख्यातं हि विना [illegible] ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(तत्र) उस आयुध शालामें (तद् वपुः) उन जीवंधरस्वामीका शरीर (तन्मनोवृत्तेः) उनके मनके व्यापारसे प्राग् एव) पहले ही (प्रययौ) नंदाढ्यके प्रेमके कारण पहुंच गया। अत्र नीति (हि) निश्चयसे (आस्थायां सत्यां) किसी वस्तुकी आस्था रहने पर (यत्नं विना) विना यत्नके भी (वाक्कायचेष्टितम्) वचन और शरीरकी चेष्टा (अस्ति) हो जाती है ॥ ९ ॥

गत्वा तत्र च नन्दाढ्यं पश्यन्संमदसादभूत् ।
भ्रातुर्विलोकनं प्रीत्यै विप्रयुक्तस्य किं पुनः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ —(तत्र च गत्वा) और वहां जाकर जीवधर स्वामी (नंदाढ्यं) नंदाढ्यको (पश्य) देख (संमदसात् अभूत्) अत्यन्त प्रसन्न हुए। अत्र नीति । (हि) निश्चयसे (भ्रातुः) भाईका (विलोकनं) देखना ही (प्रीत्यै) प्रीतिके लिये (भवति) होता है (विप्रयुक्तस्य) विछुड़े हुएका तो (किं पुनः वक्तव्यं) फिर कहना ही क्या है । अर्थात् विछुड़े हुए भाईका मिलना अत्यन्त हर्षका करनेवाला होता है ॥ १० ॥

अनुजोऽपि तमालोक्य मुमुचे दुःखसागरात् ।
विस्मृतं हि चिरं भुक्तं दुःखं स्यात्सुखलाभतः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ —(अनुजः अपि) छोटा भाई भी (तं) उन जीवंधर अपने बड़े भाईको (आलोक्य) देखकर (दुःखसागरात्) दुःख रूपी समुद्रसे (मुमुचे) पार होगया । अत्र नीति । (हि) निश्चयसे (चिरभुक्तं) चिरकाल तक भोग किये हुए दुःख दुःखका (सुखलाभतः) सुख मिलनेके अनंतर (विस्मृतं) विस्मरण (स्यात्) होजाता है ॥ ११ ॥

कथमाया इति ज्यायानभ्यपृच्छत् मिथोऽनुजम् ।
वञ्चनं चापमानं च न हि प्राज्ञैः प्रकाश्यते ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ - (ज्यायान्) बड़े भाई जीवन्धर कुमारने (अनुजम) छोटे भाईसे (मिथः) एकान्तमें "(त्व) तुम यहां (कथं) कैसे (आयाः) आये" (इति) इस प्रकार (अभ्यपृच्छत्) पूछा । अत्र नीति । (हि) निश्चयसे (प्राज्ञैः) बुद्धिमान पुरुष (वञ्चनं) अपने ठगाये जानेको (च) और (अपमानं च) अपने निरादरको (न प्रकाश्यते) प्रकाशित नहीं करते है ॥ १२ ॥

सखेदं ध्यातदुःखोऽयमाचख्यौ वृत्तिमात्मनः ।
ध्यातेऽपि हि पुरा दुःखे भृशं दुःखायते जनः ॥१३॥

अन्वयार्थ —(ध्यातदुःख) ध्यान किया है पहले दुखका जिसने ऐसे (अयं) इस नदाढ्यने (आत्मनः) अपना (वृत्तिं) सारा वृत्तात (सखेदं) खेद सहित (आचख्यौ) कह दिया। अत्र नीति । (हि) निश्चयसे (पुरा) पहले (दुःखे ध्याते अपि) दुखका ध्यान करने पर भी (जनः) मनुष्य (भृशं) अत्यन्त (दुःखायते) दुखी होता है ॥ १३ ॥

पूज्यपाद तदास्माकं पापाद्भवति निर्गते ।
मृतकल्पोऽप्यहं मर्तुं सर्वथा समकल्पयम् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ —(पूज्यपाद !) हे पूज्यपाद ! (तदा) उस समय (अस्माकं) हमारे (पापात्) पापके उदयसे (भवति) आपके (निर्गते सति) यहां चले आने पर (मृतकल्पः अपि) मरे हुएके समान भी (अहं) मैंने (सर्वथा मर्तुं) सर्व प्रकारसे मरनेके लिये (समकल्पयम्) कर लिया ॥ १४ ॥

विद्याविदितवृत्तान्ता कथंवृता प्रजावती ।
इत्यालोच्यैव संस्थाने बोधो मे समजायत ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—(विद्याविदितवृत्तान्ता) फिर विद्याके बलसे सब वृत्तान्तको जाननेवाली (प्रजावती) मेरी भावज (आपकी गन्धर्वदत्ता)का (कथंवृत्ता) क्या समाचार है (इति) इस प्रकार विचार करके (संस्थाने) योग्य समयमें (मे बोधः) मुझे ज्ञान (समजायत) उत्पन्न हो गया ॥ १५ ॥

एवं भाविभवदृष्टिशंभरत्वादहं पुनः ।
प्रजावतीगृहं प्राप्य सविषादमवास्थिषम् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—(पुनः) फिर (एवं) इस प्रकार (भाविभवद्दृष्टि शंभरत्वात्) भाविमें आपके दर्शन रूपी सुखकी आशासे (अहं) मैं (प्रजावतीगृहं प्राप्य) मैं गन्धर्वदत्ताके घर जाकर वहां (सविषादम्) खेद करता हुआ (अवास्थिषम्) बैठगया ॥ १६ ॥

स्वामिनि स्वामिहीनानां कुतः स्त्रीणां सुखासिका ।
इति वक्तुमुपक्रान्ते हृदयज्ञा तु साभ्यधात् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(हे स्वामिनि !) हे स्वामिनि ! (स्वामिहीनानां) अपने स्वामी (निजपति) के विना (स्त्रीणां) स्त्रियोंकी (सुखासिका) सुखपूर्वक स्थिति (कुतः) कैसे (स्यात्) हो सकती है (इति) इस प्रकार (वक्तुं) कहनेके लिये (उपक्रान्ते) मैं प्रारम्भ करनेवाला ही था (तु) कि (हृदयज्ञा) हृदयकी बात जाननेवाली उस गन्धर्वदत्ताने (अभ्यधात्) कहा ॥ १७ ॥

(पापा भामिनी) मैं पापिनी स्त्री (क्वनुगम्येत) विना पतिकी आज्ञाके कहां जा सकती हूं ॥ २० ॥

इत्युक्त्वा शाययित्वा च शय्यायां साभिमन्त्रितम् ।
मामत्रभवती चात्र सपत्रं प्राहिणोदिति ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः—(इति) इस प्रकार (उक्त्वा) कहकर (अत्र भवती) पूज्य भावजने (आपकी स्त्रीने) (मां) मुझको (शय्यायां) सेज पर (साभिमन्त्रितम्) मन्त्रपूर्वक (शाययित्वा) सुलाकर (च) और (सपत्रं) पत्रसहित (अत्र) यहां (प्राहिणोत्) भेज दिया। (इति) ऐसा नंदाढ्यने जीवंधर स्वामी अपने बड़े भाईसे कहा ॥ २१ ॥

अखिद्यत ततः स्वामी सदयैरनुजोदितैः ।
स्नेहपाशो हि जीवानामासंसारं न मुञ्चति ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः—(ततः) इसलिये (स्वामी) जीवंधर स्वामी (सदयैः) दयाजनक (अनुजोदितैः) छोटे भाई नंदाढ्यके कहे हुए वचनोंसे (अखिद्यत) अत्यंत दुखी हुए। अत्र नीति (हि) निश्चयसे (आसंसारं) जब तक संसार है तब तक (जीवानां) प्राणियोंका (स्नेहपाशः) स्नेहरूपी बन्धन (न) नहीं (मुञ्चति) नहीं छूटता है ॥ २२ ॥

गुणमालाव्यथाशंसि पत्रं चायमवाचयत् ।
चतुराणां स्वकार्योक्तिः स्वमुखान्न हि वर्तते ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः—(अथ) फिर जीवंधर स्वामीने (गुणमालाव्यथाशंसि) गुणमालाकी विरह पीडाका सूचक (पत्रं) गन्धर्वदत्ताका भेजा हुआ पत्र (अवाचयत्) पढ़ा। अत्र

अन्वयार्थः—(श्वशुर-रुद्धः अपि) सुसुरके रोकने पर भी (स्वामी) जीवंधर स्वामी (गोमोचनकृते) गौओंके छुड़ानेके लिये (ययौ) चले गये । अत्र नीतिः । (हि) निश्चयसे जब (अशक्तैः) असमर्थ पुरुषोंसे भी (पराभवः) तिरस्कार (नसोढव्यः) सहन नहीं होता है । (शक्तैः) समर्थ पुरुषोंका तो (किं पुनः वक्तव्यं) फिर कहना ही क्या है अर्थात् वह तिरस्कार कैसे सहन कर सकते हैं कभी भी नहीं ॥ २९ ॥

दस्यवोऽपि गवां तत्र मित्राण्येवाभवन्विभोः ।
एधोगवेषिभिर्भाग्ये रत्नं चापि हि लभ्यते ॥ ३० ॥

अन्वयार्थः—(तत्र) वहा (गवां दस्यवः अपि) गौओंके पकडनेवाले भी (विभोः) जीवंधर स्वामीके (मित्राणि एव) मित्र ही (अभवन्) बन गये । अत्रनीतिः । (हि) निश्चयसे (भाग्ये सति) भाग्यके उदय होने पर (एधोगवेषिभि अपि) लकडी ढूंढनेवालोंको भी (रत्नं च) रत्न (लभ्यते) मिल जाता है ॥ ३० ॥

समोऽभूत्स्वामिमित्रेषु स्नेहश्चान्योन्यवीक्षणात् ।
एककोटिगतस्नेहो जडानां खलु चेष्टितम् ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ —(अन्योन्यवीक्षणात्) परस्पर एक दूसरेको देखनेसे (स्वामिमित्रेषु) जीवंधर स्वामी और स्वामीके इन मित्रोंमें (समः) एक सरीखा (स्नेहः) प्रेम (अभूत्) उत्पन्न हो गया । अत्र नीतिः । (खलु) निश्चयसे (एककोटिगतस्नेहः) एक कोटिको प्राप्त स्नेह अर्थात् एकतर्फी प्रीति (जडानां) मूर्खोंकी

(चेष्टितम्) चेष्टा है । बुद्धिमानोंकी प्रीति इस प्रकार नहीं होती है ॥ ३१ ॥

जामातरि चमत्कारो राज्ञोऽभून्मित्रवीक्षणात् ।
कृतिनोऽपि न गण्या हि वीतस्फीतपरिच्छदाः ॥३२॥

अन्वयार्थ —(मित्रवीक्षणात्) स्वामीके मित्रोंको देखनेसे (राज्ञः) राजा दृढमित्रको (जामातरि) अपने दामाद जीवंधर स्वामीके विषयमें (चमत्कारः अभूत्) अत्यन्त आश्चर्य हुआ । अत्र नीति (हि) निश्चयसे (वीतस्फीतपरिच्छदाः अपि) विना समृद्धसेनादिक सामग्रीके भी (कृतिनः) पुण्यात्मा पुरुष (न गण्याः) नहीं समझने चाहिये ॥ ३२ ॥ अर्थात् उनको बहुत सामग्री युक्त समझना चाहिये ।

समित्रावरजोऽहृष्यदतिमात्रमसौ कृती ।
एकेच्छानामतुच्छानां न ह्यन्यत्संगमात्सुखम् ॥३३॥

अन्वयार्थ —(समित्रावरजः) छोटे भाई और मित्रो सहित (असौ कृतिः) विद्वान् जीवधर कुमार (अतिमात्रं) अत्यंत (अहृष्यत्) हर्षित हुए । अत्र नीति (हि) निश्चयसे (अतुच्छानां) श्रेष्ट पुरुषोंके (एकेच्छानां) एकसी इच्छा रखनेवालोंके (संगमात्) समागमसे (अन्यत्सुखं) और कोई दूसरा सुख (न भवति) नहीं है ॥ ३३ ॥

अयथापुरसंमानात्सनशोन सखीनसौ ।
विशेने हि विशेषज्ञो विशेषाकारवीक्षणात् ।३४॥

अन्वयार्थः—(असौ) इन जीवंधर कुमारने (अयथापुरसंमानात्) पूर्वमें कभी नहीं किये हुए मित्रोंके द्वारा [illegible]

अन्वयार्थः—(श्वशुर रुद्धः अपि) सुसुरके रोकने पर भी (स्वामी) जीवंधर स्वामी (गोमोचनकृते) गौओंके छुड़ानेके लिये (ययौ) चले गये । अत्र नीतिः । (हि) निश्चयसे जब (अशक्तैः) असमर्थ पुरुषोंसे भी (पराभवः) तिरस्कार (नसोढव्यः) सहन नहीं होता है । (शक्तैः) समर्थ पुरुषोंका तो (किं पुनः वक्तव्य) फिर कहना ही क्या है अर्थात् वह तिरस्कार कैसे सहन कर सकते हैं कभी भी नहीं ॥ २९ ॥

दस्यवोऽपि गवां तत्र मित्राण्येवाभवन्विभोः ।
एधोगवेषिभिर्भाग्ये रत्नं चापि हि लभ्यते ॥ ३० ॥

अन्वयार्थः—(तत्र) वहां (गवा दस्यवः अपि) गौओंके पकड़नेवाले भी (विभो) जीवंधर स्वामीके (मित्राणि एव) मित्र ही (अभवन) बन गये । अत्रनीतिः । (हि) निश्चयसे (भाग्ये सति) भाग्यके उदय होने पर (एधोगवेषिभिः अपि) लकड़ी ढूंढनेवालोंको भी (रत्नं च) रत्न (लभ्यते) मिल जाता है ॥ ३० ॥

स्नेहोऽभूत्स्वामिमित्रेषु स्नेहश्चान्योन्यवीक्षणात् ।
एककोटिगतस्नेहो जडानां खलु चेष्टितम् ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—(अन्योन्यवीक्षणात्) परस्पर एक दूसरेको देखनेसे (स्वामिमित्रेषु) जीवंधर स्वामी और स्वामीके मित्रोंमें (स्नेह) एक दूसरेका (स्नेह) प्रेम (अभूत) उत्पन्न हो गया । अत्र नीतिः । (खलु) निश्चयसे (एककोटिगतस्नेह) [illegible] (जडानां) मूर्खोंकी

(चेष्टितम्) चेष्टा है। कुटिलानोंकी प्रीति इस प्रकार नहीं होती है॥ ३१॥

जामातरि चमत्कारो राज्ञोऽभून्मित्रवीक्षणात् ।
कृतिनोऽपि न गण्या हि वीतस्फीतपरिच्छदाः ॥३२॥

अन्वयार्थः—(मित्रवीक्षणात्) स्वामीके मित्रोंको देखनेसे (राज्ञः) राजा दृढमित्रको (जामातरि) अपने दामाद जीवंधर स्वामीके विषयमें (चमत्कारः अभूत्) अत्यन्त आश्चर्य हुआ। अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (वीतस्फीतपरिच्छदाः) अधिक समृद्धसेनादिक सामग्रीके भी (कृतिनः) पुण्यात्मा पुरुष (न गण्याः) नहीं समझने चाहिये ॥ ३२ ॥ अर्थात् उनको बहुत सामग्री युक्त समझना चाहिये।

समित्रावरजोऽहृष्यदतिमात्रमसौ कृती ।
एकेच्छानामतुच्छानां न ह्यन्यत्संगमात्सुखम् ॥३३॥

अन्वयार्थ—(समित्रावरजः) छोटे भाई और मित्रो सहित (असौ कृती) विद्वान् जीवंधर कुमार (अतिमात्रं) अत्यंत (अहृष्यत्) हर्षित हुए। अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (अतुच्छानां) श्रेष्ठ पुरुषोंके (एकेच्छानां) एकसी इच्छा रखनेवालोंके (संगमात्) समागमसे (अन्यत् सुखं) और कोई दूसरा सुख (न भवति) नहीं है ॥ ३३ ॥

अयथापुरसंमानात्स्वमशोचत्सखीनसौ ।
विशेषे हि विशेषज्ञो विशेषाकारवीक्षणात् ॥३४॥

अन्वयार्थः—(असौ) उन जीवंधर कुमारने (अयथापुरसंमानात्) पूर्वमें कभी नहीं किये हुए [illegible]

तन्मात्रा दृष्टमात्रेण कुत्रत्या इति चोदिताः ।
वयमप्युत्तरं वक्तुमुपक्रम्य यथाक्रमम् ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थः—(तन्मात्रा) उस माताने (दृष्टमात्रेण) हम लोगोंको देखते ही (कुत्रत्या) तुम कहांके रहनेवाले हो (इति) इस प्रकार (चोदिताः) पूछा तब (वयं अपि) हम लोगोंने भी (यथाक्रमम्) यथा क्रमसे (उत्तरं वक्तु) माताके प्रश्नका उत्तर देनेके लिये (उपक्रम्य) प्रारम्भ करके (इति अवोचाम) ऐसा कहा । क्या ? ॥४१॥

अस्ति राजपुरे कश्चिद्विबुधानामपश्चिमः ।
विशां च जीवकाख्योऽयमेते जीवातुका वयम् ॥४२॥

अन्वयार्थ —(राजपुरे) राजपुर नगरमें (विबुधानां) पण्डितोंका (च) और (विशां) वैश्योंका (अपश्चिमः) शिरोभूषण (कश्चित्) कोई (अयं) यह (जीवकाख्य) जीवक (जीवंधर नामका) पुरुष है और (वयं) हम लोग (एते जीवातुका) उनके अनुजीवी (नौकर चाकर) हैं ॥ ४२ ॥

काष्ठाङ्गाराह्वयः कोऽपि कोपादेनमनेनसम् ।
हन्तुं किलेत्यवोचाम मूर्छिता सा च पेतुषी ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ —(तत्र) उस नगरमें (कोऽपि) कोई (काष्ठाङ्गाराह्वयः) काष्ठाङ्गार नामका राजा (कोपात्) कोपसे (अनेनसम्) निर्दोष (एनं) इन जीवंधरको (हन्तुं) मारनेके लिये" (किल) सच (इति अवोचाम), इतना कहा ही था कि (सा) वह माता (मूर्छिता) मूर्छित होकर (पेतुषी) गिर पड़ी ॥ ४३ ॥

हन्त हन्त हतो नाम मन्दभाग्यान्विता मया ।
किंचिन्मात्रप्रयाणा सा प्राक्तनक्रन्दनेनता ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थः—"(हन्त! हन्त!) हाय! हाय! (हे अम्ब!) हे माता! (अयं) यह जीवंधर (न हतः) मारे नहीं गये" जब (मया) मैंने (इति) इस प्रकार (अभिहिता) कहा तब (पिहिता सु प्रयाणा) रुक गया है प्राणोंका निकलना जिसका ऐसी (लब्ध-चेतना) सचेत होकर (सा) वह माता (प्रालपत्) प्रलाप करने लगी ॥ ४४ ॥

अम्भोदालीव दम्भोलीममृतं च मुमोच सा ।
देवी समं प्रलापेन देवोदन्तमिदन्तया ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थः—(अम्भोदाली) मेघोंकी पङ्क्ति (इव) जिस प्रकार (दम्भोली) वज्रपात (च) और (अमृतं) जलको (मुमोच) वर्षाती है उसी प्रकार (सा देवी) उस माताने (प्रलापेन समम्) प्रलापके साथ (देवोदन्तं) आपके वृत्तान्तको (इदंतया) इस रीतिसे (अकथ-यत्) कहा । अर्थात्—आपकी उत्पत्ति आदिककी बीती हुई सब कथा उसने खेदके साथ हम लोगोंको सुनाई ॥ ४६ ॥

तन्मुखात्खादिवोत्पन्नां रत्नवृष्टिं तवोन्नतिम् ।
उपलभ्य वयं लब्धाममन्यामहि तन्महीम् ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थः—(तन्मुखात) उसके मुखसे (तव उन्नतिम्) आपकी उन्नतिको (खात) आकाशसे (उत्पन्नां) बरसती हुई (रत्नवृष्टि) रत्नोंकी वर्षाके (इव) समान (उपलभ्य) सुनकर (वयं) हमलोग (तन्महीं) उस पृथ्वीको (लब्धां) हाथमें आई हुई (अमन्यामहि) मानने भये ॥ ४६ ॥

देववैभवसंकीर्त्या ततो देवीं पुनः पुनः ।
आश्वास्यापृच्छ्य तद्देशादिमं देशं गता इति ॥४७

अन्वयार्थ—(नत्र) उसके अनन्तर (तत्र) उस उस अरण्यमें (अनन्यधी) निष्फल नहीं है किसी कार्यमें बुद्धि जिनकी ऐसे जीवंधर कुमार (पमनिर्जी) अपनी माताको (वीक्ष्य) देख कर (प्रेमान्ध अभूत) मातृप्रेमसे अन्धे हो गये। अत्र नीति। (हि) निश्चयसे (तत्वज्ञाननिरोधाये) तत्वज्ञान रूपी विचारके छिप जाने पर (रागादि) रागादिक भाव (निरंकुशम्) विना रुकावटके प्रबलतासे (प्रवर्तने) ही प्रवर्तित हो जाते हैं ॥ ९३ ॥

जातजातक्षणत्यागाज्जातं दुर्जातमक्षिणोत् ।
सुतवीक्षणतो माता सुतप्राणा हि मातरः ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थ—(माता) जीवंधर स्वामीकी माताने (जातजातक्षणत्यागात) पुत्रको जन्म समयमें ही त्याग देनेसे (जातं) उत्पन्न (दुर्जातं) दुःखको (सुतवीक्षणत) पुत्रके देखनेसे ही (अक्षिणोत्) नष्ट कर दिया अर्थात भूल गई । अत्र नीति. । (हि) निश्चयसे (सुतप्राणामातर सन्ति) पुत्र ही है प्राण जिनके ऐसी माताएं होती हैं ॥ ९४ ॥

सूनोर्वीक्षणतस्तप्ता क्षोणीशं तमियेष सा ।
लाभे लाभमभीच्छा स्यान्न हि तृप्तिः कदाचन ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ—(सूनो) पुत्रके (वीक्षणत) देख लेनेसे (तप्ता) तप्तायमान (सा) वह माता (तं) पुत्रको (क्षोणीशं) राजा होनेकी (इयेष) इच्छा करती भई । अर्थात्—यह कब राजा होगा ऐसी उनकी माताने इच्छा की । अत्र नीतिः । (हि) निश्चयसे (लाभे लाभं अभि) एक वस्तुकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्यकी दूसरी वस्तुकी

प्राप्तिके लिये (इच्छा स्यात्) इच्छा हुआ करती है परन्तु (तृप्तिः) इच्छाकी पूर्ति अर्थात संतोष (कदाचन न) कभी भी नहीं (भवति) होता है ॥ ९९ ॥

कच्चित्पितुः पदं ते स्यादङ्ग पुत्रेत्यचोदयत् ।
सामग्रीविकलं कार्यं न हि लोके विलोकितम् ॥९६॥

अन्वयार्थः—" (अङ्गपुत्र) हे पुत्र ! (कच्चित) कोई (ते) तुम्हारे (पितुः) पिताका (पदं स्यात्) स्थान है " (इति) इस प्रकार जीवधर स्वामीसे उनकी माताने (अचोदयत) कहा। अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (लोके) संसारमें (सामग्रीविकलं) उत्पादक सामग्रीके विना (कार्यं) कार्य (नविलोकितम्) नहीं देखा गया है ॥ ९६ ॥

अम्ब किं बत खेदेन बाढं स्यादिति सोऽभ्यधात् ।
मुग्धेष्वतिविदग्धानां युक्तं हि बलकीर्तनम् ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ.—पुत्रने कहा (बाढं स्यात्) हां है (हे अम्ब !) हे माता ! (बत खेदेन किं) व्यर्थ खेदसे क्या लाभ (इति) इस प्रकार (स अभ्यधात्) उसने कहा। अत्र नीति ! (हि) निश्चयसे (अतिविदग्धानां) चतुर पुरषोंका (मुग्धेषु) मूढ जनोंमें (बलकीर्तनम्) अपने बलका कथन करना (युक्तं स्यात्) युक्त ही होता है ॥ ९७ ॥

पुत्रवाक्येन हस्तस्थां मेने माता च मेदिनीम् ।
मुग्धाः श्रुतविनिश्चेया न हि युक्तिवितर्किणः ॥९८॥

अन्वयार्थ —(माता) माताने (पुत्रवाक्येन) पुत्रके

ततो राजपुरीं वीक्ष्य सुतरामतृपत्सुधीः ।
ममत्वधीः कृतो मोहः सविशेषो हि देहिनाम् ॥६४॥

अन्वयार्थः—(ततः) फिर (सुधीः) बुद्धिमान जीवंधर कुमार (राजपुरीं) राजपुरी नगरीको (वीक्ष्य) देखकर (सुतरां) स्वयमेव (अतृपत्) अत्यन्त सन्तुष्ट हुए । अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (देहिनाम्) प्राणधारियोंके (ममत्वधी. कृतः) ममत्व बुद्धिसे किया हुआ (मोह) मोह (स विशेषो भवति) बहुत अधिक होता है ।

अर्थात्—जहां पर " यह मेरी वस्तु है " वहां पर प्रेम विशेष रीतिसे हुआ करता है ॥ ६४ ॥

क्रीडन्ती कापि हर्म्याग्रात्पातयामास कन्दुकम् ।
संपदामापदां चाप्तिर्व्याजेनैव हि केनचित् ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थ.—(तत्र) उस नगरीमें (क्रीडन्ती) क्रीडा करती हुई (कापि) किसी जवान कन्याने (हर्म्याग्रात्) अपने महलके ऊपरसे (कन्दुकम्) गेंद (पातयाभास) फेंकी । अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (सपदा) सम्पत्ति (च) और (आपदां) आपत्तिकी (आप्तिः) प्राप्ति (केनचित) किसी (व्याजेन एव भवति) बहानेसे ही होती है ॥ ६५ ॥

उद्भ्रुकस्तद्गतीं मत्यां दृष्ट्वामुग्धद्बाह्यधीः ।
वशिनां हि मनोवृत्तिः स्थान एव हि जायते ॥६६॥

अन्वयार्थ.—(अबाह्यधीः) बाह्य पदार्थोंमें नहीं हैं बुद्धि जिनकी ऐसे जीवंधर स्वामी (उद्भ्रुक) ऊपरको मुख किये हुए

ही (तढतीं) गेंदसे खेलती हुई (मूर्त्यां) उस जवान कन्याको (वीक्ष्य) देखकर (अमुह्यत) उस पर मोहित हो गये । अत्र नीति (हि) निश्चयसे (वशिनां) जितेन्द्रिय पुरुषोंकि (मनोवृत्ति) मनके भाव (स्थाने एव) युक्त स्थानमें ही (जायते) प्रवृत्त होते है ॥ ६६ ॥

तन्मोहादयमध्यास्त तत्सौधाग्रवितर्दिकाम् ।
अश्रमा कृतपुण्यानां न हि वाञ्छापि वञ्चिता ॥ ६७॥

अन्वयार्थ —(अयं) यह जीवंधर कुमार (तन्मोहात्) उस कन्याके प्रेमसे (तत्सौधाग्रवितर्दिकाम्) उसके महलके [illegible] वेदी पर (अध्यास्त) बैठ गये । अत्र नीति । (हि) निश्चयसे (अश्रमा कृत पुण्यानां) किया है [illegible] ऐसे पुरुषोंकी (वाञ्छा अपि) इच्छा भी [illegible] नहीं होती है ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थः—(हे भद्र !) हे भद्र ! (अहं) मैं (सागरदत्त) सागरदत्त नामका वैश्य हूं और (एतत्) यह (ममालय.) मेरा घर (भवति) है और (कमलोद्भूता) कमला नामकी मेरी स्त्रीसे उत्पन्न (विमला) विमला नामकी मेरी (सुता) पुत्री है (मा च) और वह पुत्री भी (सुत्या अभवत्) जवान हो गई है ॥ ६९ ॥

रत्नजालमविक्रीतं विक्रीयेत यदागमे ।
भाविज्ञास्तं पतिं तस्याः समुत्पत्तावजीगणन् ॥७०॥

अन्वयार्थः—(भाविज्ञाः) ज्योतिष शास्त्रोंके जाननेवालोंने (तस्या) उसका (समुत्पत्तौ) उत्पत्तिके समयमें "(यदागमे) जिसके आने पर (अविक्रीतं) नहीं बिका हुआ (रत्नजालं) रत्नोंका समूह (विक्रीयेत) बिक जायगा" (तं) उसको (पतिं) इसका पति (अजीगणन्) गणना की ॥ ७० ॥

भवत्यत्र पविष्टे च दृष्टमेतदलं परैः ।
भाग्याधिक भवानेव योग्यः परिणयेदिति ॥७१॥

अन्वयार्थः—और (भवति) आपके (अत्र पविष्टे) यहां प्रवेश करने पर (एतद् दृष्टं च) यह सब देखा गया है । (परैः अलं) और ज्यादा कहनेसे क्या ? अतएव (हे भाग्याधिक !) हे महाभाग्य (योग्य) योग्य (भवान्) आप ही (परिणयेत) इस कन्याके साथ व्याह करें । इति) इस प्रकार उसने कहा ॥ ७१ ॥

तन्निर्बन्धादयं चाभूदनुमन्ता तथाविधौ ।
वाञ्छितार्थेऽपि कातर्यं वशिनां न हि दृश्यते ॥७२॥

अन्वयार्थः—(अयं) इन जीवंधर कुमारने (तन्निर्बंधात्)

इसके अनन्तर स्वाग करनेपर (नन्दाविर्धा) इस विषयमें (अनुमन्ता अभूत्) अपनी अनुमति दी। स्था नीति ' (हि) निश्चयसे (वाञ्छितार्थेऽपि) इच्छित पदार्थमें भी (वशिनां) जितेन्द्रिय पुरुषोंकि (स्वार्थं) स्वाधीनता (न दृश्यते) नहीं देखी जाती है ॥७२॥

अथ सागरदत्तेन दत्तां सत्यंधरात्मजः ।
व्यवहद्विमलां कन्यां हव्यवाहसमक्षकम ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ —(अथ) इसके अनंतर (सत्यंधरात्मज) सत्यधर राजाके पुत्र जीवंधर स्वामीने (सागरदत्तेन) सागरदत्तसे (दत्तां) दी हुई (विमला) विमला नामकी (कन्यां) कन्याको (हव्यवाह समक्षकम्) अग्निकी साक्षी पूर्वक (व्यवहत) व्याहा ॥७३॥

इति श्रीमद्वादिभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ सान्वयार्थो विमलालम्भो नाम अष्टमो लम्बः ॥

अन्वयार्थ—(यान्ता) जीवंधर स्वामीके मित्रोंने (कश्चित्) वाके चिन्हसे युक्त (तं) उस जीवंधर स्वामीको (आलोक्य) देखकर (बहु अमन्यत) अत्यन्त आदरसत्कार किया। अत्र नीति : (हि) निश्चयसे (देहिनाम्) प्राणियोंको (ऐहिकातिशयप्रीति) इस लोक संबंधी अतिशय अर्थात् किसीभी सांसारिक वस्तुमें प्रेम (अतिमात्रा भवति) अत्यन्त होता है ॥ ३ ॥

अब्रवीदस्य सोत्प्रासं बुद्धिषेणो विदूषकः ।
बहुद्वारा हि जीवानां पराराधनदीनता ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—फिर (बुद्धिषेण) बुद्धिषेण नामके (अस्य, इन जीवंधर स्वामीके (विदूषक) विदूषकने (सोत्प्रासम्) हसकर (अब्रवीत्) कहा। अत्र नीति : (हि) निश्चयसे (पराराधनदीनता) दूसरोंकी सेवा करनेकी चतुराई (जीवानां) प्राणियोंके (बहुद्वारा) नाना प्रकारकी (भवति) होती है ॥ ४ ॥

सुलभाः खलु दौर्भाग्यादन्योपेक्षितकन्यकाः ।
व्यूढायां सुरमञ्जर्यां पौरोभाग्यं भवेदिति ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—"(दौर्भाग्यात्) दुर्भाग्यके कारण (अन्योपेक्षितकन्यका.) दूसरोंसे उपेक्षा की हुई कन्याएं (सुलभाः खलु) तो जिसचाहेको मिल सकतीं हैं. किन्तु (सुरमञ्जर्यां व्यूढायां) सुरमञ्जरीके साथ व्याह करनेपर ही (पौरोभाग्यं) आप महाभाग्यशाली (भवेत्) कहलाएंगे। (इति) इस प्रकार विदूषकने जीवंधर स्वामीसे कहा ॥ ५ ॥

तद्वाक्यादयमुद्भूतमवाञ्छीत्तां च मानिनीम् ।
हेतुच्छलोपलम्भेन जृम्भते हि दुराग्रहः ॥ ६ ॥

वार्धकं तत्क्षणे प्राप मनुमाहात्म्यतोऽभवत् ।
अनवद्या सती विद्या फलमूकापि किं भवेत् ॥९॥

अन्वयार्थ —(मनुमाहात्म्यत) मन्त्रकी महिमासे (अभ्य) वह जीवन्धर कुमार (तत्क्षणे) उसी समय (वार्धकम्) बूढेका रूप (अभवत्) हो गया। अत्र नीति (हि निश्चयसे (अनवद्या) निर्दोष (सती समीचीन (विद्या) विद्या (अपि किं) क्या कभी (फलमूका) फल रहित (भवेत्) होती है (किन्तु न भवेत्) किन्तु नहीं होती है ॥ ९ ॥

विजहार पुनश्चायं वर्षीयान्परितः पुरीम् ।
अन्यैरशङ्कनीया हि वृत्तिर्नीतिज्ञगोचराः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ —(पुनश्च) और फिर (अय वर्षीयान्) यह बूढा (पुरीं परित) उस नगरीके चारों ओर (विजहार) विहार करने लगा। अत्र नीति (हि , निश्चयसे (नीतिज्ञगोचरा) नीतिज्ञ पुरुष विषयक (वृत्ति) चाल (अन्यै) दूसरोंसे (अशङ्कनीया भवति) शङ्का करने योग्य नहीं होती है । १० ॥

प्रवयोविप्रवेषं तं वीक्षमाणा विवेकिनः ।
विषयेषु व्यरज्यन्त वार्धकं हि विरक्तये ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(प्रवयोविप्रवेषं) बूढे ब्राह्मणके वेषधारी (तं) उसको (वीक्षमाणा) देखनेवाले (विवेकिन) विवेकी पुरुष (विषयेषु) इन्द्रियोंके विषयोंसे (व्यरज्यन्त) विरक्त हुए। अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (वार्धक) बुढापा (विरक्तये भवति) विरक्तिके लिये ही होता है ॥ ११ ॥

मक्षिकापक्षतोऽप्यच्छे मांसाच्छादनचर्मणि ।
लावण्यं भ्रांतिरित्येतन्मूढेभ्यो वक्ति वार्धकम् ॥१२॥

अन्वयार्थः—(वार्धकम्) बुढापा (मूढेभ्यः) मूढ़ मनुष्योंसे (मक्षिकापक्षतः) मक्खियोंके पखोंसे भी (अच्छे) पतले (मांसाच्छादन चर्मणि) शरीरके मांसको ढकनेवाले चमडेमें (लावण्यं भ्राति.) सुन्दरता मानना सर्वथा भ्रम है (इति) (एतद्) इस बातको (वक्ति) कहता है ॥ १२ ॥

प्रतिक्षणविनाशीदमायुः कायमहो जडाः ।
नैव बुध्यामहे किंतु कालमेव क्षयात्मकम् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ —(हे जडाः) हे मूर्खो (इदम्) यह (आयु काय) आयु और शरीर (प्रतिक्षणविनाशि) क्षणक्षणमें नाश होनेवाला है किंतु (अहो !) खेद है ! (वयं) हम सब (नैव बुध्यामहे) नहीं जानते है (किंतु कालं एव) किंतु समयको (क्षयात्मकम् बुध्यामहे) नष्ट होनेवाला समझते हैं ॥ १३ ॥

हन्त लोको वयस्यन्ते किमन्यैरपि मातरम् ।
मन्यते न तृणायापि मृतिः श्लाघ्या हि वार्धकात्॥१४॥

अन्वयार्थः—(हन्त) शोक है ! (लोकः) मनुष्य (अन्ते वयसि) बुढापेकी अवस्थामें (मातरं अपि) जीवन देनेवाली माताको भी (तृणाय अपि न मन्यते) तृणके समान भी नहीं समझते है (अन्यैः कि) औरका तो फिर कहना ही क्या है (हि यत) इसलिये (मृति) मरना ही (वार्धकात्) बुढापेसे (श्लाघ्या) अच्छा है ॥ १४ ॥

इत्याश्चर्यं च हास्यं च जनयन्प्राज्ञबालयोः ।
अगारं सुरमञ्जर्या वर्षीयान्पुनरासदत् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ - (प्राज्ञबालयो) बुद्धिमान और बालकोंके (इत्यादि) इस प्रकार (आश्चर्य) विचार (च) और (हास्य) हास्यको (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (वर्षीयान) यह बूढा (पुन) फिर (सुरमञ्जर्या अगार) सुरमञ्जरीके घर (आसदत्) पहुंचा ।। १५ ॥

पृष्टो दौवारिकस्त्रीभिराचष्ट फलमागतेः ।
कुमारीतीर्थमात्मार्थं न ह्यसत्यं सतां वचः ॥१६॥

अन्वयार्थ.—(दौवारिकस्त्रीभि) द्वारकी रक्षा करनेवाली स्त्रियोंसे (पृष्ट.) पूछे हुए इस बूढेने (आगते फलम्) अपने आनेके कारणको (आत्मार्थं) आत्माके कल्याणके लिये (कुमारी तीर्थं) कुमारी तीर्थमें स्नान करनेके लिये आया हूं " (इति) इस प्रकार (आचष्ट) कहा । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (सतां वच) सज्जन पुरुषोंका वचन (असत्य न भवति) झूठा नहीं होता है ॥ १६॥

अहसन्नथ तद्वाक्यादङ्गना अप्यसंगतात् ।
अविवेकिजनानां हि सतां वाक्यमसंगतम् ॥१७॥

अन्वयार्थः—(अथ) इसके अनंतर (अङ्गना) द्वारकी रक्षा करनेवाली स्त्रियां (अपि) भी (असंगतात्) असंबद्ध बेतुकी (तद्वाक्यात्) उसकी वातोंसे (अहसन्) हंस पड़ीं । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (अविवेकिजनानां) अविवेकी पुरुषोंको (सतां वाक्यं) सज्जन पुरुषोंका वचन (असंगतम्) असंबद्ध (भासते) भास दिया करता है ॥ १७ ॥

बुभुक्षितं नमालक्ष्य भोजयामास सा सती ।
अन्तस्तत्त्वस्य याथात्म्ये न हि वेषो नियामकः॥२१॥

अन्वयार्थ —(सा सती) उस श्रेष्ठ कन्याने (तं बुभुक्षितं आलक्ष्य) उस बूढ़ेको भूखा समझकर (भोजयामास) भोजन कराया। अत्र नीति. ! (हि) निश्चयसे (वेष) बाहरी वेश (अन्तस्तत्त्वस्य) भीतरी अन्तर स्वरूपकी (याथात्म्ये) यथार्थताका (नियामक न भवति) जतलानेवाला नहीं होता है ॥ २१ ॥

भुक्त्वाथ वार्धकेनेव सुष्वाप तल्पिमे कृती ।
योग्यकालप्रतीक्षा हि प्रेक्षापूर्वविधायिनः ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके अनंतर (कृती) वह बुद्धिमान बूढ़ा (भुक्त्वा) भोजन करके (वार्धकेन एव) बुढ़ापेकी थकावटसे ही मानो (तल्पे) किसी शय्या पर (सुष्वाप) आराम करनेके लिये पड़ गया। अत्र नीति ! (हि) निश्चयसे (प्रेक्षापूर्वविधायिनः) विचारपूर्वक कार्य करनेवाले मनुष्य (योग्यकालप्रतीक्षा भवंति) योग्य उत्तम समयकी बाट जोहा करते हैं ॥ २२ ॥

भुवनमोहनं गानमगासीदथ गानवित् ।
परम्परानिशायी हि मोहः पञ्चेन्द्रियोद्भवः ॥२३॥

अन्वयार्थः—(अथ) इसके अनंतर (गानवित्) गान विद्याके जाननेवाले उस बुड्ढेने (भुवनमोहनं) जगतको मोहित करनेवाला (गानं) गाना (अगासीत्) गाया। अत्र नीतिः। (हि) निश्चयसे (पंचेन्द्रियोद्भव) पांचों इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ (मोह.) मोह (विषयोंमें प्रीति) (परम्परानिशायी) एक दूसरेसे [illegible] होती है ॥ २३ ॥

गानकौशलतः सैनं शक्तिमन्तममन्यत ।
विशेषज्ञा हि बुध्यन्ते सदसन्तौ कुतश्चन ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः—(सा) उस सुरमञ्जरीने (गानकौशलतः) गानेकी कुशलतासे (एनं) इस बूढेको (शक्तिमन्तं) और कार्य करनेमें भी शक्तिवाला (अमन्यत) समझा। अत्र नीतिः। (हि) निश्चयसे (विशेषज्ञाः) विशेष बातको जाननेवाले मनुष्य (कुतश्चन) किसी न किसी कारणसे (सदसन्तौ) सत् असत् बातका (बुध्यन्ते) निश्चय कर लिया करते हैं ॥ २४ ॥

ततः स्वकार्यमप्यस्मात्सादराभूत्परीक्षितुम् ।
स्वकार्येषु हि तात्पर्यं स्वभावादेव देहिनाम् ॥२५॥

अन्वयार्थः—(ततः) इस लिये (सा) वह सुरमञ्जरी (अस्मात्) उस बूढे ब्राह्मणसे (स्वकार्यं अपि) अपने कार्यको भी (परीक्षितुं) परीक्षा करनेके लिये (सादरा अभूत्) आदरयुक्त हुई। अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (देहिनाम्) देह धारियोंको (स्वभावात्) स्वभावसे ही (स्वकार्येषु) अपने कार्योंमें (तात्पर्यं भवति) तत्परता हुआ करती है ॥ २५ ॥

गानवच्छक्तिरन्यत्र किमस्तीत्यन्वयुङ्क्त सा ।
याञ्चायां फलमूकायां न हि जीवन्ति मानिनः ॥२६॥

अन्वयार्थः—(सा) उस सुरमञ्जरीने " (गानवत्) गानेके सदृश (अन्यत्रापि) दूसरे कार्योंमें भी (किं) क्या तुम्हारी (शक्तिः अस्ति) शक्ति है " (इति) इस प्रकार (अन्वयुङ्क्त) पूछा अत्र नीतिः। (हि) निश्चयसे (याञ्चाया) याचनाके (फल-

(हि) निश्चयसे (मनीषितानुकूल) इष्ट मनोरथके अनुकूल कहना ही (प्राणिनां मनः) जीवोंके मनको (प्रीणयेत्) प्रसन्न करता है॥

मनीषितं च हस्तस्थं मेने सा सुरमञ्जरी ।
मनोरथेन तृप्तानां मूललब्धौ तु किं पुनः ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ —तब फिर (सा सुरमञ्जरी) उस सुरमञ्जरीने (मनीषितम्) अपने मनोरथको (हस्तस्थ) अपने हाथमें आया हुआ (मेने) समझा । अत्र नीति । (हि) निश्चयसे (मनोरथेन तृप्तानां) मनोरथसे संतुष्ट हो जानेवाले पुरुषोंको (मूललब्धौ) यदि मूल पदार्थ मिल जाय (तु) तो (पुन.) फिर (किं वक्तव्य) कहना ही क्या है ॥ ३० ॥

अनैषीत्तामसौ पश्चात्कामकोष्ठं यथेप्सितम् ।
विचाररूढकृत्यानां व्यभिचारः कुतो भवेत् ॥३१॥

अन्वयार्थ —(पश्चात्) फिर (असौ) यह वृढा ब्राह्मण (यथेप्सितम्) निश्चित किये हुए (कामकोष्ठं) कामदेवके मन्दिरमे (तां) उसको (अनैषीत्) ले गया । अत्र नीति । (हि) निश्चयसे (विचार रूढ कृत्यानां) विचारपूर्वक कार्य करनेवाले पुरुषोंके (व्यभिचार) कार्यमें हानि (कुत) कैसे (भवेत्) हो सकती है ॥ ३१ ॥

कामं सा प्रार्थयामास जीवकस्वामिकाम्यया ।
जन्मान्तरानुबन्धौ हि रागद्वेषौ न नश्यतः ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ —वहां (सा) उस कुमारीने (जीवक स्वामिकाम्यया) जीवंधर स्वामीकी प्राप्ति होनेकी इच्छासे (कामं) कामदेवसे (प्रार्थ-

अन्वयार्थः—वहां (सोऽपि) उस जीवंधरकुमारने भी (पति कृत्येन) पति कृत्य प्रेमालापादि द्वारा (तां पत्नीं) उस स्त्रीको (सुतरां) अत्यंत (अतोषयत्) संतोषित किया। अत्र नीतिः! (हि) निश्चयसे (दम्पत्योः एक कण्ठयोः) स्त्री पुरुषके एकसा प्रेम होने पर (संसारः अपि) संसार भी (सारः स्यात्) साररूप हो जाता है ॥ ३५ ॥

ततः कुबेरदत्तेन दत्तां तां सुरमञ्जरीम्।
सुमतेरात्मजां सोऽयमुपयेमे यथाविधि ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थः—(तत) इसके अनंतर (सः अयम्) उस इस जीवंधर कुमारने (कुबेरदत्तेन दत्तां) कुबेरदत्तसे दी हुई (सुमतेः आत्मजां) सुमतीकी पुत्री (तां सुरमञ्जरीं) उस सुरमञ्जरीको (यथाविधि) विधिपूर्वक (उपयेमे) व्याहा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्वादिभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ सान्वयार्थो सुरमञ्जरीलम्भो नाम नवमो लम्बः ॥

ॐ

दशमो लम्बः

अथ पाणिगृहीतीं तां बहुमेने बहुप्रियः ।
बहुयत्नोपलब्धे हि प्रेमबन्धो विशिष्यते ॥ १ ॥

अन्वयार्थ —(अथ) इसके अनंतर (बहु प्रिय.) बहुत स्त्रियोंके पति उन जीवंधर कुमारने (तां पाणिगृहीतीं) उस व्याही हुई सुन्दरी स्त्रीको (बहु मेने) बहुत माना । अत्र नीति. ! (हि) निश्चयसे (बहुयत्नोपलब्धे) बहुत यत्नसे प्राप्त वस्तुमें (प्रेमबन्ध.) प्रेमका संबंध (विशिष्यते) विशेषतर हुआ ही करता है ॥ १ ॥

कृच्छ्रेणाराध्य तां भूयो मित्राणां पार्श्वमाश्रितः ।
स्वामीच्छाप्रतिकूलत्वं कुलजानां कुतो भवेत् ॥२॥

अन्वयार्थ—(भूय) फिर जीवंधर कुमार (तां) उस स्त्रीको (कृच्छ्रेण) किसी न किसी प्रकारसे (आराध्य) सन्तुष्ट करके (मित्राणां पार्श्वं) अपने मित्रोंके समीप (आश्रित) आगये। अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (कुलजानां) कुलीन स्त्रियोंके (स्वामीच्छाप्रतिकूलत्वं) अपने स्वामीकी इच्छाके विरुद्धता (कुत) कैसे (भवेत्) हो सकता है अर्थात्—नहीं हो सकता ॥२॥

सन्निधीयस्तदा मित्रैः पित्रोरन्तिकमाययौ ।
आत्मदुर्लभमन्येन सुलभं हि विलोकनम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ —(तदा) उस समय कुमार [illegible]

[illegible]

करनेके लिये तैयार (आसीत्) हुआ । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (स्वयं परिणत. दन्ती) अपने आप ही दन्त प्रहार करनेवाला हाथी (अन्येन प्रेरितः) यदि दूसरेसे प्रेरणा किया जाय तो (किं पुनः वक्तव्यं) फिर कहना ही क्या है ॥ ९ ॥

मन्त्रिभिर्मन्त्रशालायां मन्त्रयामास मन्त्रवित् ।
न ह्यमन्त्रं विनिश्चेयं निश्चिते च न मन्त्रणम् ॥१०॥

अन्वयार्थ.—(मन्त्रवित्) मन्त्रके जाननेवाले राजाने (मन्त्रशालाया) मन्त्रशालामे (मन्त्रिभिः) मन्त्रियोंके साथ (मन्त्रयामास) सलाह की । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (विनिश्चेयं) निश्चय करने योग्य बात (अमन्त्रं) विना मन्त्रके (न भवति) नहीं होती है (च) और (निश्चिते) किसी बातका निश्चय हो जाने पर (मन्त्रणम् न) सलाह नहीं की जाती है ॥ १० ॥

काष्ठाङ्गारस्य संदेशं सचिवैः शुश्रुवानयम् ।
ज्ञात्वा हि हृदयं शत्रोः प्रारब्धव्या प्रतिक्रिया ॥११॥

अन्वयार्थः—(अयं) इस गोविन्द राजाने (सचिवैः) मन्त्रियों द्वारा (काष्ठाङ्गारस्य) काष्ठाङ्गारका यह वक्ष्यमाण (संदेशं) संदेश (शुश्रुवान्) सुनाया । अत्र नीति. (हि) निश्चयसे (शत्रोः) शत्रुका (हृदयं) मन (ज्ञात्वा) जानकर ही (प्रतिक्रिया) प्रतीकार (प्रारब्धव्या) प्रारंभ करना चाहिये ॥ ११ ॥

अघेनाहमपख्यातिं राजघे मदहस्तिनि ।
लब्धवानवबुध्येत मिथ्येयं तत्त्ववेदिना ॥ १२ ॥

(गोविन्दराजेन सह) गोविन्दराजके साथ (गुरुगौरवात्) बड़े गौरवसे (महाराजं कौरवम्) महाराजा जीवंधरस्वामीका (यथा-विधि) विधिपूर्वक (अभ्यषिञ्चन्) राज्याभिषेक किया ॥ ४३ ॥

अयादापृच्छ्य राजेन्द्रं यक्षेन्द्रोऽपि स्वमन्दिरम् ।
न ह्यासक्त्या तु सापेक्षो भानुः पद्मविकासने ॥४४॥

अन्वयार्थः—(यक्षेन्द्रः अपि) यक्षेन्द्र भी (राजेन्द्रं आपृच्छ्य) राजेन्द्रसे पूछ कर (स्व मन्दिर) अपने स्थानको (अयात्) चला गया । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (भानुः) सूर्य (पद्मविकासने) कमलोके प्रफुल्लित होने पर (आसक्त्या) फिर किसी आसक्तिसे (सापेक्षो न भवति) अपेक्षा नहीं करता है । अर्थात् कमलोको खिलाकर फिर उनसे कुछ संबध नहीं रखता हुआ अस्ताचलकी ओर चला जाता है ॥ ४४ ॥

तर्पिताखिललोकोऽस्मात्सौधाभ्यन्तरमाश्रितः ।
सिंहासनमलंचक्रे राजसिंहः क्रमागतम् ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थः–(तर्पिताखिललोकः) फिर प्रसन्न किया है सम्पूर्ण लोकको जिसने ऐसे (राजसिंहः) उन राजाओंमे श्रेष्ठ जीवंधर स्वामीने (अस्मात्) इस जिन मन्दिरसे निकल कर (सौधाभ्यंतर-माश्रित) और अपने महलको प्राप्त करके (क्रमागतम्) कुलपरं-परासे प्राप्त (सिंहासनं) राजसिंहासनको (अलंचक्रे) सुशोभित किया ॥ ४५ ॥

तद्वृत्तान्तवितर्कोऽभूल्लोके विस्मयबृंहितः ।
अतर्क्यसंपदापद्भ्यां विस्मयो हि विशेषतः ॥४६॥

अन्वयार्थः—(जिघांसितः) जिसको मारना चाहते थे उसने (आत्मानं) अपने (जिघांसुः) मारनेवालेको (हत्वा) मारकर (राज्यं) राज्य (लेभे) ले लिया । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (भावि) जो कुछ होना है वह (अवश्यं एव) अवश्य ही (भवेत्) होता है (केनापि) किसीसे भी (न रुद्धते) नहीं रोका जाता है ॥ ४९ ॥

जिजीविषाप्रपञ्चेन जातोऽयं राजवञ्चकः ।
काष्ठाङ्गारोऽपि नष्टोऽभूत्स्वयं नाशी हि नाशकः ॥५०

अन्वयार्थः—(जिजीविषा प्रपञ्चेन) अपने जीनेकी इच्छाके विस्तारसे (राजवञ्चकः) राजाको धोखेसे मारनेवाला (अयं काष्ठाङ्गारः अपि) यह काष्ठाङ्गार भी (नष्टः अभूत्) मारा गया अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (नाशी) दुसरेका नाश करने वाला (स्वयं नाशक स्यात्) अपना ही नाश करने वाला होता है ॥ ५० ॥

यक्षः क्षणोपकारेण प्राणदायी बभूव सः ।
काष्ठाङ्गारः कृतघ्नोऽभूत्स्वभावो न हि वार्यते ॥५१॥

अन्वयार्थ —(स यक्षः) कुत्तेका जीव वह यक्ष (क्षणोपकारेण) क्षणमात्रके उपकारसे (प्राणदायी बभूव) जीवधर स्वामीके प्राणोंके बचानेवाला हुआ और (काष्ठाङ्गारः) काष्ठाङ्गार (कृतघ्न अभूत) कृतघ्नी हुआ अर्थात्–सत्यंधर महाराजने जिसे राज्य दिया था वही उन्हींके प्राणोंका घातक हुआ । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे इसलिये (स्वभाव) प्रकृति किसीकी भी (न वार्यते) निवारण नहीं की जा सकती है ॥५१॥

अपकारोपकाराभ्यां सदसन्तौ न भेदिनौ ।
दृष्टं च भाति कल्याणं केनाङ्गारविशुद्धता ॥५२॥

अन्वयार्थ·—(जिघासितः) जिसको मारना चाहते थे उसने (आत्मानं) अपने (जिघांसुः) मारनेवालेको (हत्वा) मारकर (राज्यं) राज्य (लेभे) ले लिया । अत्र नीति· ! (हि) निश्चयसे (भावि) जो कुछ होना है वह (अवश्यं एव) अवश्य ही (भवेत्) होता है (केनाऽपि) किसीसे भी (न रुध्यते) नहीं रोका जाता है ॥ ४९ ॥

जिजीविषाप्रपञ्चेन जातोऽयं राजवञ्चकः ।
काष्ठाङ्गारोऽपि नष्टोऽभूत्स्वयं नाशी हि नाशकः ॥५०

अन्वयार्थः—(जिजीविषा प्रपञ्चेन) अपने जीनेकी इच्छाके विस्तारसे (राजवञ्चकः) राजाको धोखेसे मारनेवाला (अयं काष्ठाङ्गारः अपि) यह काष्ठाङ्गार भी (नष्टः अभूत्) मारा गया अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (नाशी) दुसरेका नाश करने वाला (स्वयं नाशक. स्यात) अपना ही नाश करने वाला होता है ॥ ५० ॥

यक्षः क्षणोपकारेण प्राणदायी बभूव सः ।
काष्ठाङ्गारः कृतघ्नोऽभूत्स्वभावो न हि वार्यते ॥५१॥

अन्वयार्थ·—(स यक्षः) कुत्तेका जीव वह यक्ष (क्षणोपकारेण) क्षणमात्रके उपकारसे (प्राणदायी बभूव) जीवधर स्वामीके प्राणोंके बचानेवाला हुआ और (काष्ठाङ्गार.) काष्ठाङ्गार (कृतघ्न.अभूत्) कृतघ्नी हुआ अर्थात–सत्यंधर महाराजने जिसे राज्य दिया था वही उन्हींके प्राणोंका घातक हुआ । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे इसलिये (स्वभावः) प्रकृति किसीकी भी (न वार्यते) निवारण नहीं की जा सकती है ॥५१॥

अपकारोपकाराभ्यां सदसन्तौ न भेदिनौ ।
दग्धं च भाति कल्याणं केनाङ्गारविशुद्धता ॥५२॥

अन्वयार्थ —(जिघांसितः) जिसको मारना चाहते थे उसने (आत्मानं) अपने (जिघांसुः) मारनेवालेको (हत्वा) मारकर (राज्यं) राज्य (लेभे) ले लिया । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (भावि) जो कुछ होना है वह (अवश्यं एव) अवश्य ही (भवेत्) होता है (केनापि) किसीसे भी (न रुध्यते) नहीं रोका जाता है ॥ ४९ ॥

जिजीविषाप्रपञ्चेन जातोऽयं राजवञ्चकः ।
काष्ठाङ्गारोऽपि नष्टोऽभूत्स्वयं नाशी हि नाशकः ॥५०॥

अन्वयार्थ—(जिजीविषा प्रपञ्चेन) अपने जीनेकी इच्छाके विस्तारसे (राजवञ्चकः) राजाको धोखेसे मारनेवाला (अयं काष्ठाङ्गारः अपि) यह काष्ठाङ्गार भी (नष्टः अभूत्) मारा गया अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (नाशी) दूसरेका नाश करने वाला (स्वयं नाशकः स्यात्) अपना ही नाश करने वाला होता है ॥ ५० ॥

यक्षः क्षणोपकारेण प्राणदायी बभूव सः ।
काष्ठाङ्गारः कृतघ्नोऽभूत्स्वभावो न हि वार्यते ॥५१॥

अन्वयार्थ —(स यक्षः) कुत्तेका जीव वह यक्ष (क्षणोपकारेण) क्षणमात्रके उपकारसे (प्राणदायी बभूव) जीवंधर स्वामीके प्राणोंके बचानेवाला हुआ और (काष्ठाङ्गारः) काष्ठाङ्गार (कृतघ्नः अभूत्) कृतघ्नी हुआ अर्थात्—सत्यंधर महाराजने जिसे राज्य दिया था वही उन्हींके प्राणोंका घातक हुआ । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे इसलिये (स्वभावः) प्रकृति किसीकी भी (न वार्यते) निवारण नहीं की जा सकती है ॥५१॥

अपकारोपकाराभ्यां सदसन्तौ न भेदिनौ ।
इत्थं च भाति कल्याणं केनाङ्गारविशुद्धता ॥५२॥

सबको प्यारी हुई (हि) निश्चयसे (राजन्वती) उत्तम राजासे युक्त (सती) समीचीन (भूमिः) पृथ्वी (कुतो वा न सुखायते) क्या प्रजाको सुख देनेवाली नहीं होती है ? किन्तु होती ही है ॥५४॥

काष्ठाङ्गारकुटुम्बस्याप्यनुमेने सुखासिकाम् ।
स्वस्थानेऽपि महाराजो न ह्यस्थानेऽपि रुट् सताम्॥५५॥

अन्वयार्थ —(महाराज) महाराज जीवंधरने (काष्ठाङ्गार कुटुम्बस्य) काष्ठाङ्गारके कुटुम्बको (अपि) भी (स्वस्थानेऽपि) अपने ही स्थानमें (सुखासिकाम्) सुख पूर्वक रहनेकी (अनुमेने) अनुमति देदी । अत्र नीति ' (हि) निश्चयसे (सतां) सज्जन पुरुषोंका (रुट्) क्रोध (अस्थाने) अयोग्य स्थानमें (न भवति) नहीं होता है ॥ ५५ ॥

यौवराज्ये च नन्दाढ्यं वृद्धक्षत्रोचिते पदे ।
गन्धोत्कटं च चक्रेऽसौ लोकवन्द्ये च मातरौ ॥५६॥

अन्वयार्थः—(फिर असौ) इन जीवधर स्वामीने (यौवराज्ये) युवराजके पदपर अपने छोटे भाई (नन्दाढ्यं) नन्दाढ्यको (च) और (वृद्धक्षत्रोचिते पदे) बूढे क्षत्रियोके योग्य पदपर (गन्धोत्कट) गन्धोत्कटको (च) और (लोकवन्द्ये) लोकपूज्य (पदे) पदपर (मातरौ) दोनों माताओंको (चक्रे) स्थापित किया ॥ ५६ ॥

अकरामकरोद्धात्रीं वर्षाणि द्वादशाप्ययम् ।
महिपैः क्षुभितं तोयं न हि सद्यः प्रसीदति ॥५७॥

अन्वयार्थ —और (अयं) इन जीवंधर स्वामीने (धात्रीं) पृथ्वीको (द्वादश वर्षाणि) बारह वर्ष पर्यंत (अकराम्) कर

अन्वयार्थ.—(हि) निश्चयसे (विरूद्धार्थे) विरुद्ध पदार्थके (वीक्षिते) देखनेपर (चिरस्थाय्यपि) चिरकालसे स्थित पदार्थ (अपि) भी (नष्टं स्यात्) नष्ट होजाते हैं अर्थात् जरासा सुख मिलनेसे पूर्वके सब दुःख भूल जाते हैं (दीपस्य संनिधावपि) दियेके समीप आनेपर भी (किं) क्या (गुहामुखं) गुफाओंका मुख (तमिस्र) अन्धकार युक्त (स्यात्) रहसकता है ? नहीं ॥ ६० ॥

अथायं नवुतेः पुत्रीं दत्तां गोविन्दभूभुजा ।
पर्यणैषीन्महाराजः पार्थिवैर्विहितोत्सवः ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ —(अथ) इसके अनंतर (पार्थिवैः विहितोत्सवः) राजाओंने किया है उत्सव जिनके लिए ऐसे (अयं महाराजः) इन महाराज जीवधरने (गोविन्दभूभुजा) गोविन्दराजसे (दत्ता) दी हुई (नुवते)नुवतीकी (पुत्रीं) पुत्री लक्ष्मणाको (यथाविधि पर्यणैषीत्) विधिपूर्वक व्याही ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्वादिभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ सान्वयार्थो लक्ष्मणा लम्भो नाम दशमो लम्बः ॥

कृतिनामेकरूपा हि वृत्तिः संपदसंपदोः ।
न हि नादेयतोयेन तोयधेरस्ति विक्रिया ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (सपदसंपदो) सम्पत्ति और विपत्तिमें (कृतिना) बुद्धिमानोंकी (वृत्ति) वृत्ति (एकरूपा भवेत्) एकसी रहती है। सच है–(नादेयतोयेन) नदीके जलसे (तोयधे) समुद्रमें (विक्रियानास्ति) विकार भाव नहीं होता है॥३॥

सुखदुःखे प्रजाधीने तदाभूतां प्रजापतेः ।
प्रजानां जन्मवर्जं हि सर्वत्र पितरौ नृपाः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(तदा) उस समय अर्थात् राज्य मिलने पर (प्रजापतेः) महाराज जीवंधरके (सुखदुःखे) सारे सुखदुख (प्रजाधीने) प्रजाके आधीन (अभूताम्) हो गये अर्थात् प्रजाके सुख दुखसे वह अपनेको सुखी दुखी समझने लगे। अत्र नीतिः (हि) निश्चयसे (जन्मवर्जं) जन्म देनेके सिवाय सर्वत्र अन्य सब विषयोमे (नृपा.) राजा ही (प्रजाना) प्रजाके (पितरौ स्त.) मां बाप हैं ॥ ४ ॥

आसीत्प्रीतिकरं तस्य करदानं च दानवत् ।
वृषलाः किं न तुष्यन्ति शालेये बीजवापिनः ॥५॥

अन्वयार्थ—(च) और (तस्य) उसकी प्रजाको (करदानं) राजाको महसूल देना भी (दानवत्) दान देनेकी तरह (प्रीतिकर) प्रीतिकर अर्थात् आनंददायक (आसीत्) हुआ। अत्र नीति ! (हि) निश्चयसे (शालेये) धान्यके खेतमे (बीजवापिन) बीज बोनेवाले (वृषलाः) किसान लोग (किं) क्या (न तुष्यति) संतुष्ट नही होते है, होते ही है।

जिस प्रकार तपमें योग और क्षेमकी (मन वचन काय रूप योगोंके रोकनेकी) आवश्यकता है उसी प्रकार राज्यमें योग और क्षेमकी आवश्यकता है। कभी नहीं प्राप्त वस्तुके पानेको योग कहते हैं। और प्राप्तकी रक्षा करना क्षेम कहलाता है। और (प्रमादे सति) प्रमाद होने पर अर्थात् राजा और तपस्वी राज्य पालन और तपस्यामें यदि प्रमाद करे तो (अधःपतात्) दोनोंका अधः पतन होता है (च) और (अन्यथा) प्रमाद रहित योग और क्षेम पालन करनेसे (महोदयात्) दोनोंका महान् उदय होता है ॥ ८ ॥

प्रबुद्धेऽस्मिन्भुवं कृत्स्नां रक्षत्येकपुरीमिव ।
राजन्वती च भूरासीदन्वर्थं रत्नसूरपि ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(प्रबुद्धेऽस्मिन्) सारे कार्योंमे सावधान इस राजाके (एक पुरीं इव) एक पुरी (नगरी) के समान (कृत्स्नां भुवं) सारी पृथ्वीकी (रक्षति सति) बुद्धिमानीसे रक्षा करनेपर (भूः) पृथ्वी (राजन्वती) श्रेष्ठ राजासे युक्त (अन्वर्थं) सार्थक (रत्नसूरपि) रत्नगर्भा (आसीत्) हुई ॥९॥

एवं विराजमानेऽस्मिन्राजराजे महोदये ।
विजया जननी तस्य विरक्ता संसृतावभूत् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (महोदये) महान् उदयवाले (अस्मिन् राजराजे, इस राजेश्वरके (विराजमाने) विराजमान होने पर विजयानन्य जननी) विजया नामकी जीवंधरकी माता (संसृतौ विरक्ता) संसारसे विरक्त (अभूत्) हुई अर्थात् उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥ १० ॥

पात:) इस संसार रूपी गड्ढेमे पड़े रहना (कुत्सितानां) नीच पुरुषोंकी (चेष्टतम्) चेष्टा है ॥ १३ ॥

इति वैराग्यतस्तस्याः सुनन्दापि व्यरज्यत ।
पाके हि पुण्यपापानां भवेद्बाह्यं च कारणम् ॥१४॥

अन्वयार्थ.—(इति) इस प्रकार (तस्या.) विजया रानीके (वैराग्यत·) विरक्त हो जानेपर (सुनन्दापि) गन्धोत्कटकी स्त्री सुनन्दा भी (व्यरज्यत) संसारसे विरक्त हो गई । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (पुण्यपापानां च) पुण्य और पापके (पाके) उदय आनेमें (बाह्य कारणं) बाह्य कारण (भवेदेव) अवश्य ही होता है ॥ १४ ॥

ततः कृच्छ्रायामाणं ते महीनाथं च कृच्छ्रतः ।
अनुज्ञाप्य ततो गत्वादीक्षिपातां यथाविधि ॥१५॥

अन्वयार्थ—(तत·) इसके अनंतर (ते) उन दोनों माताओंने (कृच्छ्रायमाण) शोकयुक्त (महीनाथ) जीवधर स्वामीको (कृच्छ्रत) किसी न किसी प्रकार कष्टसे (अनुज्ञाप्य) समझा कर (ततो गत्वा) और घरसे वनमें जाकर (यथाविधि) विधिपूर्वक (अदीक्षिपाता) जिन दीक्षा लेली ॥ १५ ॥

पद्माख्या श्रमणीमुख्या विश्राणय्य श्रमणीपदम् ।
तन्मातृभ्यां ततस्तं च महीनाथमबोधयत् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ (श्रमणीमुख्या) उस समय सम्पूर्ण अर्जिकाओंमें श्रेष्ट (पद्माख्या) पद्मा नामकी अर्जिकाने (तन्मातृभ्यां) उन दोनों माताओंके लिये (श्रमणी पदम्) अर्जिकाका पद

पातः) इस संसार रूपी गड्डेमें पड़े रहना (कुत्सितानां) नीच पुरुषोंकी (चेष्टितम्) चेष्टा है ॥ १३ ॥

इति वैराग्यतस्तस्याः सुनन्दापि व्यरज्यत ।
पाके हि पुण्यपापानां भवेद्बाह्यं च कारणम् ॥१४॥

अन्वयार्थ.—(इति) इस प्रकार (तस्याः) विजया रानीके (वैराग्यत) विरक्त हो जानेपर (सुनन्दापि) गन्धोत्कटकी स्त्री सुनन्दा भी (व्यरज्यत) संसारसे विरक्त हो गई । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (पुण्यपापाना च) पुण्य और पापके (पाके) उदय आनेमें (बाह्य कारण) बाह्य कारण (भवेदेव) अवश्य ही होता है ॥ १४ ॥

ततः कृच्छ्रायमाणं ते महीनाथं च कृच्छ्रतः ।
अनुज्ञाप्य ततो गत्वादीक्षिपातां यथाविधि ॥१५॥

अन्वयार्थ —(तत) इसके अनंतर (ते) उन दोनों माताओंने (कृच्छ्रायमाणं) शोकयुक्त (महीनाथं) जीवंधर स्वामीको (कृच्छ्रत) किसी न किसी प्रकार कष्टसे (अनुज्ञाप्य) समझा कर (ततो गत्वा) और घरसे वनमें जाकर (यथाविधि) विधिपूर्वक (अदीक्षिपाता) जिन दीक्षा लेली ॥ १५ ॥

पद्माख्या श्रमणीमुख्या विश्राणय श्रमणीपदम् ।
तन्मातृभ्यां ततस्तं च महीनाथमबोधयत् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ —(श्रमणीमुख्या) उस समय सम्पूर्ण अर्जिकाओंमें श्रेष्ट (पद्माख्या) पद्मा नामकी अर्जिकाने (तन्मातृभ्या) उन दोनों माताओंके लिये (श्रमणी पदम्) अर्जिकाका पद

(विश्राण्य) देकर (ततः) फिर (तं च महीनाथं) उन जीवंधर महाराजको (अबोधयत्) प्रतिबोधित किया ॥ १६ ॥

प्रव्रज्या जातुचित्प्राज्ञैः प्रतिषेद्धुं न युज्यते ।
न हि खादापतन्ती चेद्रत्नवृष्टिर्निवार्यते ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः—(प्राज्ञैः) बुद्धिमानोंको (जातुचित्) कभी भी (प्रव्रज्या) किसीकी दीक्षा लेनेको (प्रतिषेद्धुं) रोकना (न युज्यते) उचित नहीं है। अत्र नीति ! (हि) निश्चयसे (चेत्) यदि (खात्) आकाशसे (रत्नवृष्टि) रत्नोंकी वर्षा (आपतन्ती) होती है तो (न निवार्यते) रोकी नहीं जाती उसी प्रकार ॥१७॥

तपस्यन्तेऽपि वा दीक्षा प्रेक्षावद्भिरपेक्ष्यताम् ।
भस्मने रत्नहारोऽयं पण्डितैर्न हि दह्यते ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ —(अपि वा) और (प्रेक्षावद्भिः) बुद्धिमान पुरुष (अन्ते वयसि) अवस्थाके अन्तमें (दीक्षा) जिन दीक्षा ग्रहण करनेकी (अपेक्ष्यताम्) अपेक्षा किया करते हैं। अत्र नीति ! (हि) निश्चयसे (पण्डितैः) पण्डित [illegible] रत्न मनुष्य जन्म रूपी रत्नोंके हारको [illegible] रत्नों [illegible] (न दह्यते) नहीं [illegible]

इति प्रबोधितो नेत्रा प्रशान्तेनो [illegible] ।
प्रश्रयेण ततो राजा [illegible] ॥ १९ ॥

[illegible]

पूर्वक लौटकर (नृपमन्दिरम् प्राविशन्) राजमन्दिरमें प्रवेश किया ॥ १९ ॥

न चिराद्धि पदं दत्ते कृतिनां हृदि विक्रिया ।
यदि रत्नेऽपि मालिन्यं न हि तत्कृच्छ्रशोधनम् ॥२०॥

अन्वयार्थः—(हि यथा) निश्चयसे जिस प्रकार (विक्रिया) इष्ट वियोगादि जन्य शोकादि भाव (कृतिनां हृदि) बुद्धिमानोंके हृदयमें (चिरात्) बहुत काल तक (पदं) स्थानको (न दत्ते) प्राप्त नहीं करता है । उसी प्रकार (रत्ने अपि) रत्नमें भी (यदि मालिन्यं) यदि मलिनता हो तो (तत्कृच्छ्रशोधनम् न) उसका साफ होना कुछ कठिन नहीं हैं ॥ २० ॥

अथास्य क्षात्रविद्यस्य क्षणवद्भुञ्जतो महीम् ।
त्रिदशोपमसौख्येन त्रिंशद्वर्षाण्ययासिषुः ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ.—(अथ) इसके अनंतर (क्षात्रविद्यस्य) क्षत्र विद्याको जाननेवाले और (त्रिदशोपमसौख्येन) देवताओंके समान सुखसे (महीं) पृथ्वीको (भुञ्जतः) भोगते हुए (अस्य) इन जीवंधर महाराजके (त्रिंशत् वर्षाणि) तीस ३० वर्ष (क्षणवत्) एक क्षणभरके समान (अयासिषु) बीत गये ॥ २१ ॥

ततः कदाचिदस्यासीज्जलक्रीडामहोत्सवः ।
वसन्ते सह कान्ताभिरष्टाभिरतिकौतुकात् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ.—(ततः) इसके अनंतर (कदाचित्) कभी (वसन्ते) वसन्त ऋतुमें (अष्टाभि. कान्ताभिः सह) अपनी आठ स्त्रियोंके साथ (अतिकौतुकात्) बड़े कौतुकसे (अस्य) इन जीवंधर

स्वामीको (जलक्रीडामहोत्सव) जलक्रीडाका महान उत्सव (आसीत्) प्राप्त हुआ ॥ २२ ॥

जलक्रीडाश्रमात्सोऽयमाक्रीडे च सनीडके ।
क्रीडन्कापटिकैः श्लाघ्यं कापेयं निरवर्तयत् ॥२३॥

अन्वयार्थ.—(स अथ) फिर उन इन जीवंधर कुमारने (जलक्रीडाश्रमात्) जलक्रीडाके परिश्रमसे थककर (सनीडके) लतामण्डप युक्त (आक्रीडे) किसी उद्यान (बगीचे) में (कापटि-कैः क्रीडन्) बन्दरोंके साथ क्रीडा करते हुए (श्लाघ्यं कापेयं) प्रशंसनीय बन्दरोंकी चेष्टा (निरवर्तयत्) देखी ॥ २३ ॥

अन्यसंरक्तितः क्रुद्धां मर्कटीं कोऽपि मर्कटः ।
प्रकृतिस्थां चटूपायैर्नाशकत्कर्तुमुद्यतः ॥ २४ ॥

(इयम् वानरी) इस बंदरीने (तदवस्थां) उसकी मृत तुल्य अवस्थाको (अपाकरोत्) दूर कर दिया ॥ २५ ॥

हर्षलो हरिरप्यस्यै पनसस्य फलं ददौ ।
वनपालो जहारैतद्वानरीमपि भर्त्सयन् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः—(हर्षलः हरिः अपि) तब हर्षित उस बंदरने भी (अस्यै) इस अपनी वानरीके लिये (पनसस्य फलं) एक पनसका फल (ददौ) दिया परन्तु (वानरीं अपि भर्त्सयन्) वानरीको भगा कर (वनपालः) वनपालने (एतद् जहार) यह फल छीन लिया ॥ २६ ॥

इत्यशेषं विशेषज्ञो वीक्षमाणः क्षितीश्वरः ।
तत्क्षणे जातवैराग्यादनुप्रेक्षामभावयत् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थः—(इति) यह (अशेषं) सब घटना (वीक्षमाणः) देखनेवाले (विशेषज्ञः) विद्वान् (क्षितीश्वरः) इन महाराज जीवंधरने (तत्क्षणे) उस समय (जातवैराग्यात्) वैराग्य उत्पन्न होनेसे पहले (अनुप्रेक्षाम्) बारह भावनाओंका (अभावयत्) चिन्तवन किया ॥ २७ ॥

१—अथानित्यत्वानुप्रेक्षा ।

मद्यते वनपालोऽयं काष्टाङ्गारायते हरिः ।
राज्यं फलायते तस्मान्मयैव त्याज्यमेव तत् ॥२८॥

अन्वयार्थः—(अयं वनपालः) यह वनपाल (मद्यते) मेरे समान है, (हरिः) वानर (काष्टाङ्गारायते) काष्टाङ्गारके समान है, और (राज्यं) राज्य (फलायते) पनस फलके समान

है (तस्मात्) इसलिये (तत्) यह राज्य (मया एव) मेरेसे (त्याज्यं एव) छोड़ने ही योग्य है ॥ २८ ॥

जाताः पुष्टाः पुनर्नष्टा इति प्राणभृतां प्रथा ।
न स्थिता इति तत्कुर्याः स्थायिन्यात्मन्पदे मतिम् २९.

अन्वयार्थ —(जाता) जन्म धारण कर (पुष्टा) पुष्ट हुए (पुनर्नष्टा) और फिर नष्ट हो गये (इति) ऐसी (प्राणभृता) संसारमें प्राणियोंकी (प्रथा) परिपाटी है (न [illegible]) कोई भी स्थिर नहीं है (तत् इसलिये ([illegible]) आत्मा! (स्थायिनी पदे) सदा स्थिर रहनेवाले [illegible] ही (मति) बुद्धि अर्थात् अपने ध्यानको (कुर्या [illegible]

स्थास्यन्ति क्षणमात्रं वा ज्ञायते न हि [illegible] ।
[illegible] ॥ ३० ॥

स्वयं ही (त्यज्या) छोड़ देने चाहिये (तथाहि) ऐसा करने पर (मुक्तिः स्यात्) आत्मा कर्म बन्धनसे छूट जाती है। (अन्यथा) और इसके विपरीत करनेसे (संसृतिः एव स्यात्) संसार ही होता है अर्थात् फिर संसारमें घूमना पड़ता है ॥३१॥

अनश्वरसुखावाप्तौ सत्यां नश्वरकायतः ।
किं वृथैव नयस्यात्मन्क्षणं वा सफलं नय ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ.—(हे आत्मन् !) और हे आत्मा ! यदि (नश्वरकायतः) नाशवान शरीरसे (अनश्वरसुखावाप्तौ सत्यां) अविनाशी सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो सके तो (किं) क्यों (वृथा एव) वृथा ही (क्षणं) समयको (नयसि) खोता हैं (सफलं नय) तू इस समयको सफल कर ॥ ३२ ॥

२—अथाशरणानुप्रेक्षा ।

पयोधौ नष्टनौकस्य पतत्रेरिव जीव ते ।
सत्यपाये शरण्यं न तत्स्वास्थ्ये हि सहस्रधा ॥३३॥

अन्वयार्थ.—(हे जीव) हे जीव ! (पयोधौ) समुद्रमे (नष्टनौकस्य) डूब गया है नौकारूपी आश्रय जिसका ऐसे (पतत्रेरिव) पक्षीकी तरह (ते) तेरे (अपाये सति) नाश अर्थात् मृत्युके समय (शरण्यं न) कोई भी शरण नहीं है । अत्र नीतिः ! (हि निश्चयसे (स्वास्थ्ये) सुखी अवस्थामें (सहस्रधा शरण्यं भवंति) हजारों शरण हो जाते है ॥ ३३ ॥

आयुर्धीयैरतिस्निग्धैर्बन्धुभिश्चाभिसंवृतः ।
जन्तुः संरक्ष्यमणोपि पश्यतामेव नश्यति ॥३४॥

अन्वयार्थः—(आयुषीवै) आयुषको लिये हुए (अतिस्निग्धैः) अत्यन्त प्यारे (बंधुभिः) बन्धुओंसे (अभिसंवृतः) चारों ओरसे घेरे हुए और (संरक्ष्यमाणः अपि) संरक्षित भी (जन्तु) प्राणी (पश्यताम् एव) देखनेवालोंके ही अगाड़ी (नश्यति) नाशको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

मन्त्रयन्त्रादयोऽप्यात्मन्स्वतन्त्रं शरणं न ते ।
किंतु सत्येव पुण्ये हि नो चेत्के नाम तैः स्थिताः॥२५॥

अन्वयार्थ—(हे आत्मन्!) हे आत्मा! (मन्त्रयन्त्रादयः अपि) मन्त्र यन्त्रादिक भी (ते) तेरे (स्वतंत्रं) स्वतन्त्र (शरणं न) रक्षक नहीं हैं (किन्तु) क्योंकि (पुण्ये सति एव) पुण्य होने पर ही यह सब सहायता करते हैं (नो चेत्) यदि पुण्यका उदय नहीं है तो (तैः) इन मन्त्र तन्त्रादिकोंसे (के नाम स्थिताः) कौन संसारमें स्थिर रहे अर्थात् कोई भी स्थिर न रहे ॥ २५ ॥

३–अथ संसारानुप्रेक्षा ।

नटवन्नैकवेषेण भ्रमत्यात्मन्स्वकर्मभिः ।
तिरश्चि निरये पापाद्दिवि पुण्याद्द्वयान्नरे ॥ २६ ॥

पञ्चानन इवामोक्षादसिपञ्जर आहितः ।
क्षणेऽपि दुःसहे देहे देहिन्हन्त कथं वसेः ॥३७॥

अन्वयार्थः—(हे देहिन्) हे देहिन् ! (हन्त !) खेद है । (असिपञ्जर आहित.) तू लोहेके पिंजरेमें कैद हुए (पञ्चानन इव) सिंहकी नाईं जो (आमोक्षात्) विना मोक्षके (क्षणेऽपि दुःसहे) क्षण मात्र भी नहीं सहा जाय ऐसे (देहे) शरीरमें (कथं) किस प्रकार (वसेः) रहता है ॥ ३७ ॥

तन्नास्ति यन्न वै भुक्तं पुद्गलेषु मुहुस्त्वया ।
तल्लेशस्तव किं तृप्त्यै विन्दुः पीताम्बुधेरिव ॥३८॥

अन्वयार्थ —और हे आत्मन् ! (पुद्गलेषु) पुद्गलोंमें (तद् नास्ति) भी कोई परमाणु ऐसा नहीं है (यत) जो (त्वया) तूने (मुहुः) बार २ (न वै भुक्त) नहीं भोगा हो और (तल्लेश) इन पुद्गलोंका लेश (पीता) पी हुई (अम्बुधेः) समुद्रकी (विन्दु. इव) बूंदके समान (किं) क्या (तव) तेरी (तृप्त्यै) तृप्तिके लिये है (अपितु न स्यात) कदापि नहीं है ॥३८॥

भुक्तोज्झितं तदुच्छिष्टं भोक्तुमेवोत्सुकायसे ।
अभुक्तं मुक्तिसौख्यं त्वमतुच्छं हन्त नेच्छसि ॥३९॥

अन्वयार्थ.—और हे आत्मन (त्वं) तू (भुक्तोज्झितं) भोगकर छोडी हुई (तद् उच्छिष्टं) उस ही उच्छिष्टको (भोक्तुं एव) फिर भोगनेके लिये (उत्सुकायसे) उत्कंठित हो रहा है। (हन्त!) खेद है ! तो भी (त्वं) तू (अभुक्तं) पूर्व नहीं किया है भोग जिसका ऐसे (अतुच्छं) महान (मुक्तिसौख्यं) मोक्षकी सुखको (न इच्छसि) इच्छा नहीं करता है ॥ ३९ ॥

संसृतौ कर्म रागाद्यैस्ततः कायान्तरं ततः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियद्वारा रागाद्याश्चक्रकं पुनः ॥ ४० ॥

अन्वयार्थः—(संसृतौ) संसारमें (रागाद्यैः) रागादिक भावोसे (कर्म) कर्म बनते हैं। और फिर (ततः) उसी कर्मसे (कायान्तरं) नवीन शरीर उत्पन्न होता है। और फिर (ततः) उसी शरीरसे (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं और (इन्द्रियद्वारा रागाद्याः) इन्द्रियोंके द्वारा ही राग द्वेषादिक होते हैं। और फिर (पुनः) इसी प्रकार (चक्रकं) संसारचक्रकी उत्पत्ति होती है। ॥ ४० ॥

अनादौ प्रबन्धेस्मिन्कार्यकारणरूपके ।
येन दुःखायसे नित्यमद्य यात्मन्निरमुञ्च तत् ॥४१॥

अन्वयार्थः—(कार्य कारण रूपके) कार्य कारण रूप (अनादौ) अनादि (अस्मिन् प्रबन्धे) इस प्रबन्धके होनेपर (येन) जिससे (त्वं नित्यं दुःखायसे) तू नित्य दुःखी होता है [illegible] ॥ ४१ ॥

पञ्चानन इवामोक्षादसिपञ्जर आहितः ।
क्षणेऽपि दुःसहे देहे देहिन्हन्त कथं वसेः ॥३७॥

अन्वयार्थ.—(हे देहिन्) हे देहिन् ! (हन्त !) खेद है । (असिपञ्जर आहितः) तू लोहेके पिंजरेमें कैद हुए (पञ्चानन इव) सिंहकी नाई जो (आमोक्षात्) विना मोक्षके (क्षणेऽपि दुःसहे) क्षण मात्र भी नहीं सहा जाय ऐसे (देहे) शरीरमें (कथं) किस प्रकार (वसेः) रहता है ॥ ३७ ॥

तन्नास्ति यन्न वै भुक्तं पुद्गलेषु मुहुस्त्वया ।
तल्लेशस्तव किं तृप्त्यै बिन्दुः पीताम्बुधेरिव ॥३८॥

अन्वयार्थ —और हे आत्मन् ! (पुद्गलेषु) पुद्गलोंमें (तद् नास्ति) भी कोई परमाणु ऐसा नहीं है (यत्) जो (त्वया) तूने (मुहुः) बार २ (न वै भुक्तं) नहीं भोगा हो और (तल्लेशः) उन पुद्गलोंका लेश (पीता) पी हुई (अम्बुधेः) समुद्रकी (बिन्दुः इव) बूंदके समान (किं) क्या (तव) तेरी (तृप्त्यै) तृप्तिके लिये है (अपि तु न स्यात्) कदापि नहीं है ॥३८॥

भुक्तोज्झितं तदुच्छिष्टं भोक्तुमिच्छोस्तवायसम् ।
अभुक्तं भुक्तिमात्रं त्वमभुक्ते हन्त नेच्छसि ॥३९॥

अन्वयार्थ —और हे आत्मन (त्व) त (भुक्तोज्झित) भोग- [illegible]

संसृतौ कर्म रागाद्यैस्ततः कायान्तरं ततः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियद्वारा रागाद्याश्चक्रकं पुनः ॥ ४० ॥

अन्वयार्थः—(संसृतौ) संसारमें (रागाद्यैः) रागादिक भावोसे (कर्म) कर्म बंधते है । और फिर (ततः) उसी कर्मसे (कायान्तरं) नवीन शरीर उत्पन्न होता है । और फिर (ततः) उसी शरीरसे (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं और (इन्द्रियद्वारा रागाद्याः) इन्द्रियोंके द्वारा ही राग द्वेषादिक होते है । और फिर (पुनः) इसी प्रकार (चक्रकं) संसारचक्रकी उत्पत्ति होती है । ॥ ४०)

सत्यनादौ प्रबन्धेस्मिन्कार्यकारणरूपके ।
येन दुःखायसे नित्यमद्य वात्मन्विमुञ्च तत् ॥४१॥

अन्वयार्थ.—(कार्य कारण रूपके) कार्य कारण रूप अनादौ) अनादि (अस्मिन् प्रबन्धेसति) इस प्रबन्धके होनेपर (येन) जिससे (त्वं नित्यं दुःखायसे) तु नित्य दुखी होता है इस लिये (हे आत्मन् !) हे आत्मन् ! (अद्यवा) अभी (तत् विमुञ्च) इसको छोडदे ॥ ४१ ॥

४—अथैकत्वानुप्रेक्षा ।

त्यक्तोपात्तशरीरादिः स्वकर्मानुगुणं भ्रमन् ।
त्वमात्मन्नेक एवासि जनने मरणेऽपि च ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ.—(हे आत्मन् !) हे आत्मन् ! (त्यक्तोपात्त शरीरादिः) छोडकर फिर ग्रहण किया है शरीरादिकको जिसने ऐसा (त्वं) तु (स्वकर्मानुगुणं भ्रमन्) अपने कर्मोंके अनुसार भ्रमण करता हुआ (जनने) जन्म (मरणेऽपि च) और मरणे

समयमें भी (एक एव अस्ति) अकेला ही है अर्थात् उस समय तेरा दूसरा कोई भी साथी नहीं है ॥ ४२ ॥

बन्धवो हि श्मशानान्ता गृह एवार्जितं धनम् ।
भस्मने गात्रमेकं त्वां धर्म एव न मुञ्चति ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थः—और देख (बन्धव.) बन्धुजन भी (श्मशानान्ता·) केवल श्मशान पर्यंत ही साथ जाते हैं (अर्जितं धनं) कमाया हुआ धन (गृहेएव) घरमें ही रह जाता है और (गात्र भस्मने) शरीर भी तेरा भस्मरूप परिणत होजाता है (एकं) केवल (धर्मः एव) धर्म ही (त्वा न मुञ्चति) तुझको नहीं छोड़ता है अर्थात् धर्म ही एक तेरे साथ जाता है ॥ ४३ ॥

पुत्रमित्रकलत्राद्यमन्यदप्यन्तरालजम् ।
नानुयायीति नाश्चर्यं नन्वङ्गं सहजं तथा ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ —(पुत्र मित्र कलत्रादि) पुत्र मित्र स्त्री तथा (अन्तरालजम् अन्यदपि) बीचमे मिलने वाले और भी (न अनुयायी) यदि तेरे साथ नहीं जाते तो (इति न आश्चर्यं) इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है (ननु अङ्गं सहजं तथा) किन्तु इस पर्यायके प्रारभसे ही साथ रहनेवाला शरीर भी साथ नहीं जाता है इसमें आश्चर्य है ॥ ४४ ॥

त्वमेव कर्मणां कर्ता भोक्ता च फलसन्ततेः ।
भोक्ता च तात किं मुक्तौ स्वाधीनायां न चेष्टसे ॥४५॥

अन्वयार्थ —और (त्व एव) तू ही (कर्मणा) कर्मोंका (कर्ता) कर्त्ता और (फल संतते) फलोंका (भोक्ता) भोगने-

वाला है (मोक्ता च) और तू ही कर्मोंका नाश करके मुक्तिको प्राप्त करने वाला है। इसलिये (हे तात !) हे तात ! (स्वाधीनायां मुक्तौ) अपने स्वाधीन मुक्तिकी प्राप्तिमें (किं न चेष्टसे) क्यों प्रयत्न नहीं करता है ॥ ४५ ॥

अज्ञातं कर्मणैवात्मन्स्वाधीनेऽपि सुखोदये ।
नेहसे तदुपायेषु यतसे दुःखसाधने ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थः—(हे आत्मन् !) हे आत्मन् ! (कर्मणा एव अज्ञः) कर्मोंके उदयसे तू अज्ञानी होकर (स्वाधीने) स्वाधीन (सुखोदये) मोक्ष सुखमें और (तदुपायेषु) उसके उपायोंमें (न ईहसे) चेष्टा नहीं करता है किन्तु (दुःख साधने) दुःखोंके कारणोंमें तू निरंतर (यतसे) यत्न किया करता है ॥

५—अथान्यत्वानुप्रेक्षा ।

देहात्मकोऽहमित्यात्मन्जातु चेतसि मा कृथाः ।
कर्मतो ह्यपृथक्त्वं ते त्वं निचोलासिसंनिभः ॥४७॥

अन्वयार्थ —(हे आत्मन् !) हे आत्मन् ! (देहात्मक अहं) मैं देह रूप हूं (इति) यह बात (त्वं) तू (जातु) कदापि (चेतसि) अपने चित्तमें (मा कृथा) मत कर (हि) निश्चयसे (कर्मतः) कर्मसे (ते) तेरे (अपृथक्त्वं) शरीरकी एकता है (त्वं) तू तो (निचोलासिसंनिभः) म्यानके भीतर रहनेवाली तरवारके समान है ॥ ४७ ॥

अध्रुवत्वादमेध्यत्वादचित्त्वाच्चान्यदङ्गकम् ।
[illegible] त्यदनेध्यत्वैरात्मन्नन्योऽसि कायतः

समयमें भी (एक एव अस्ति) अकेला ही है अर्थात् उस समय तेरा दूसरा कोई भी साथी नहीं है ॥ ४२ ॥

बन्धवो हि श्मशानान्ता गृह एवार्जितं धनम् ।
भस्मने गात्रमेकं त्वां धर्म एव न मुञ्चति ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थः—और देख (बन्धवः) बन्धुजन भी (श्मशानान्ता) केवल श्मशान पर्यंत ही साथ जाते हैं (अर्जितं धनं) कमाया हुआ धन (गृहेएव) घरमें ही रह जाता है और (गात्र भस्मने) शरीर भी तेरा भस्मरूप परिणत होजाता है (एक) केवल (धर्मः एव) धर्म ही (त्वा न मुञ्चति) तुझको नहीं छोड़ता है अर्थात् धर्म ही एक तेरे साथ जाता है ॥ ४३ ॥

पुत्रमित्रकलत्राद्यमन्यदप्यन्तरालजम् ।
नानुयायीति नाश्चर्यं नन्वङ्गं सहजं तथा ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ —(पुत्र मित्र कलत्रादि) पुत्र मित्र स्त्री तथा (अन्तरालजम् अन्यदपि) बीचमें मिलने वाले और भी (न अनुयायी) यदि तेरे साथ नहीं जाते तो (इति न आश्चर्यं) इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है (ननु अङ्गं सहजं तथा) किन्तु इस पर्यायके प्रारंभसे ही साथ रहनेवाला शरीर भी साथ नहीं जाता है इसमें आश्चर्य है ॥ ४४ ॥

त्वमेव कर्मणां कर्ता भोक्ता च फलसन्ततेः ।
मोक्ता च तात किं मुक्तौ स्वाधीनायां न चेष्टसे ।४५।

अन्वयार्थ —और (त्व एव) तू ही (कर्मणा) कर्मोंका (कर्त्ता) कर्त्ता और (फल सतते) फलोंका (भोक्ता) भोगने-

वाला है (भोक्ता च) और तू ही कर्मोंका नाश करके मुक्तिको प्राप्त करने वाला है । इसलिये (हे तात !) हे तात ! (स्वाधीनाया मुक्तौ) अपने स्वाधीन मुक्तिकी प्राप्तिमें (किं न चेष्टसे) क्यों प्रयत्न नहीं करता है ॥ ४५ ॥

अज्ञातं कर्मणैवात्मन्स्वाधीनेऽपि सुखोदये ।
नेहसे तदुपायेषु यतसे दुःखसाधने ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ —(हे आत्मन् !) हे आत्मन् ! (कर्मणा एव अज्ञात) कर्मोंके उदयसे तू अज्ञानी होकर (स्वाधीने) स्वाधीन (सुखोदये) मोक्ष सुखमें और (तत् उपायेषु) उसके उपायोंमें (न ईहसे) चेष्टा नहीं करता है किन्तु (दुःखसाधने) दुःखोंके कारणोंमें तू निरंतर (यतसे) यत्न किया करता है ॥

५--अथान्यत्वानुप्रेक्षा ।

देहात्मकोऽहमित्यात्मञ्जातु चेतसि मा कृथाः ।
कर्मतोऽप्यन्यतस्त्वं ते त्वं नित्यात्मासि निरञ्जनः ॥४७॥

अन्वयार्थः—(हे आत्मन् !) हे आत्मन् ! (अध्रुवत्वात्) अनित्य (अमेध्यत्वात्) अपवित्र और (अचित्तत्वात्) चेतना रहित इन तीन कारणोंसे (अङ्गम्) शरीर (अन्यत्) आत्मासे भिन्न है और (चित्त्वनित्यत्वमेध्यत्वैः) सचेतन नित्य पवित्र होनेके कारण (त्वं) तू (कायतः अन्यः असि) शरीरसे भिन्न है ॥ ४८ ॥

हेये स्वयं सती बुद्धिर्यत्नेनाप्यसती शुभे ।
तद्धेतुकर्म तद्वन्तमात्मानमपि साधयेत् ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थः—(बुद्धिः) बुद्धि (हेये) बुरे कामोंमें (स्वयं सती) अपने आप ही लग जाती है किन्तु (शुभे यत्नेनापि असती) अच्छे कामोंमें प्रयत्न करने पर भी प्रवृत्त नहीं होती (तद्धेतु) उस प्रवृत्तिसे बंधनेवाला (कर्म) कर्म ही (आत्मानं अपि) आत्माको भी (तद्वन्तं साधयेत्) वैसा ही कर देता है ॥ ४९ ॥

६—अथाशुचित्वानुप्रेक्षा ।

मेध्यानामपि वस्तूनां यत्संपर्कादमेध्यता ।
तद्गात्रमशुचिस्त्येतत्किं नाल्पमलसंभवम् ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(यत्संपर्कात्) जिसके संबंधसे (मेध्यानाम्) पवित्र (वस्तूना अपि) वस्तुएँ भी (अमेध्यता) अपवित्र हो जाती हैं और जो (अल्प मलसंभवम्) अनेक रुधिर वीर्यादि मलोंसे उत्पन्न हुआ है (इति) इसलिये (एतद्) यह (किं) क्या (अशुचिः न) अपवित्र नहीं है अवश्यही अपवित्र है ॥ ५० ॥

अस्पष्टं दृष्टमङ्गं हि सामर्थ्यात्कर्मशिल्पिनः ।
त्वग्व्यूहे किमन्यत्स्यान्मलमांसास्थिमज्जतः ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थः—(हि) निश्चयसे (कर्मशिल्पिनः) कर्मरूपी कारीगरकी (सामर्थ्यात्) चतुराईसे (अङ्गं) शरीर (अस्पष्टं दृष्टं) स्पष्ट दिखाई नहीं देता है (अत.) इसलिये (रम्यं भासते) सुन्दर मालूम होता है (ऊहे सति) परन्तु विचार करनेपर इसमे (मलमांसास्थिमज्जतः) मल, मांस, हड्डी और मज्जाके सिवाय (अन्यत् किं स्यात्) और क्या है अर्थात् शरीर इन ही अपवित्र वस्तुओंसे बना है ॥ ५१ ॥

दैवादन्तःस्वरूपं चेद्बहिर्देहस्य किं परैः ।
आस्तामनुभवेच्छेयमात्मन्को नाम पश्यति ॥५२॥

अन्वयार्थ —(हे आत्मन् !) हे आत्मन् ! (परैः किं) और तो क्या (चेत्) यदि (दैवात्) दैवयोगसे (देहस्य) इस शरीरका (अन्तः स्वरूपं) भीतरी हिस्सा (बहिर्यात्) शरीरसे बाहर निकल आवे तो (इयं अनुभवेच्छा) इसके अनुभव करनेकी इच्छा तो (दूरे आस्तां) दूर ही रहे (को नाम पश्यति) कोई इसे देखेगा भी नहीं ॥ ५२ ॥

एवं पिशितपिण्डस्य क्षयिणोऽक्षयशंकृतः ।
गात्रस्यात्मन्क्षयात्पूर्वं तत्फलं प्राप्य तत्त्यज ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थ.—(एवं च) इस प्रकार (हे आत्मन् !) हे आत्मन् ! (क्षयिणः) नाशको प्राप्त होनेवाले (अक्षयशंकृतः) किन्तु अविनाशी सुखके कारणीभूत (पिशितपिण्डस्य गात्रस्य) इस मांसके पिण्डरूप शरीरके (क्षयात् पूर्वं) नाश होनेसे पहले (तत्फलं प्राप्य) इससे मोक्षरूपी फलको प्राप्त करके (तत्) इसको छोड़दे ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थः—(हे आत्मन् !) हे आत्मन् ! (अध्रुवत्वात्) अनित्य (अमेध्यत्वात्) अपवित्र और (अचित्तत्वात्) चेतना रहित इन तीन कारणोंसे (अङ्गकम्) शरीर (अन्यत्) आत्मासे भिन्न है और (चित्त्वनित्यत्वमेध्यत्वै) सचेतन नित्य पवित्र होनेके कारण (त्वं) तू (कायतः अन्यः असि) शरीरसे भिन्न है ॥ ४८ ॥

हेये स्वयं सती बुद्धिर्यत्नेनाप्यसती शुभे ।
तद्धेतुकर्म तद्वन्तमात्मानमपि साधयेत् ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थः—(बुद्धिः) बुद्धि (हेये) बुरे कामोंमें (स्वयं सती) अपने आप ही लग जाती है किन्तु (शुभे यत्नेनापि असती) अच्छे कामोंमें प्रयत्न करने पर भी प्रवृत्त नहीं होती (तद् हेतु) उस प्रवृत्तिसे बंधनेवाला (कर्म) कर्म ही (आत्मानं अपि) आत्माको भी (तद्वन्तं साधयेत्) वैसा ही कर देता है ॥ ४९ ॥

६—अथाशुचित्वानुप्रेक्षा ।

मेध्यानामपि वस्तूनां यत्संपर्कादमेध्यता ।
तद्गात्रमशुचीत्येतत्किं नाल्पमलसंभवम् ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(यत्संपर्कात्) जिसके सम्बन्धसे (मेध्यानाम्) पवित्र (वस्तूनां अपि) वस्तुएं भी (अमेध्यता) अपवित्र हो जाती हैं और जो (अल्प मलसंभवम्) अनेक रुधिर वीर्यादि मलोंसे उत्पन्न हुआ है (इति) इसलिये (एतद्) यह (किं) क्या (अशुचिः न) अपवित्र नहीं है अवश्यही अपवित्र है ॥ ५० ॥

अस्पष्टं दृष्टमङ्गं हि सामर्थ्यात्कर्मशिल्पिनः ।
स्पष्टमूहे किमन्यत्स्यान्मलमांसास्थिमज्जतः ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थः—(हि) निश्चयसे (कर्मशिल्पिनः) कर्मरूपी कारीगिरकी (सामर्थ्यात्) चतुराईसे (अङ्गं) शरीर (अस्पष्ट दृष्ट) स्पष्ट दिखाई नहीं देता है (अतः) इसलिये (रम्यं भाषते) सुन्दर मालूम होता है (ऊहे सति) परन्तु विचार करनेपर इसमें (मलमांसास्थिमज्जतः) मल, मांस, हड्डी और मज्जाके सिवाय (अन्यत् किं स्यात्) और क्या है अर्थात् शरीर इन ही अपवित्र वस्तुओंसे बना है ॥ ५१ ॥

दैवादन्तःस्वरूपं चेद्बहिर्देहस्य किं परैः ।
आस्तामनुभवेच्छेयमात्मन्को नाम पश्यति ॥५२॥

अन्वयार्थः—(हे आत्मन् !) हे आत्मन् ! (परैः किं) और तो क्या (चेत्) यदि (दैवात्) दैवयोगसे (देहस्य) इस शरीरका (अन्तःस्वरूप) भीतरी हिस्सा (बहिर्यात) शरीरसे बाहर निकल जावे तो (इयं अनुभवेच्छा) इसके अनुभव करनेकी इच्छा तो (दूरे आस्ताम्) दूर ही रहे (को नाम पश्यति) कोई इसे देखेगा भी नहीं ॥ ५२ ॥

तत्र पिशितपिण्डस्य क्षयिणोऽक्षयवत्कुतः ।
साधनस्यात्मनःक्षेमात्पूर्वं [illegible]

आत्तसारं वपुः कुर्यास्त्वमात्मंस्तत्क्षयेऽप्यभीः ।
आत्तसारेक्षुदाहेऽपि न हि शोचन्ति मानवाः ॥५४॥

अन्वयार्थः—(हि) निश्चयसे (यथा) जिस प्रकार (मानवाः) बराई बोनेवाले मनुष्य (आत्तसारेक्षुदाहेऽपि) गृहण कर लिया है रस रूपी सार जिसका ऐसे ईखके छिलकोंके जलानेमें (न शोचंति) शोक नहीं करते हैं। (तथा) उसी प्रकार (हे आत्मन्) हे आत्मन्! (त्वं) तू भी (आत्तसारं) गृहीतसार इस (वपु) शरीरको (कुर्या) करले (यतः) जिससे तु (तत्क्षयेऽपि) इस शरीरके नाश होनेपर भी (अभी) भय रहित रहवे ॥ ५४ ॥

७--अथास्रवानुप्रेक्षा ।

अजस्रमास्रवन्त्यात्मन्दुर्मोचाः कर्मपुद्गलाः ।
तैः पूर्णस्त्वमधोऽधः स्या जलपूर्णो यथा प्लवः ॥५५॥

अन्वयार्थ—(हे आत्मन्!) हे आत्मन् (दुर्मोचा) बड़े दुखसे अलग होनेवाले (कर्मपुद्गला) कर्म रूपी पुद्गल (अजस्रं) निरन्तर (आस्रवन्ति) आते हैं (तैः पूर्ण) और उन कर्मोंसे परिपूर्ण भरा हुआ (त्वं) तू (जलपूर्ण प्लव यथा) जलसे भरी हुई नौकाके समान (अधोऽधः स्या) नीचे ही नीचे चला जाता है अर्थात् अधोगतिको प्राप्त होता जाता है ॥ ५५ ॥

तन्निदानं नवैवात्मन्योगभावौ सदातनौ ।
तौ विद्धि मनःपरिस्पन्दं परिणामं शुभाशुभम् ॥५६॥

अन्वयार्थ—(हे आत्मन्!) हे आत्मन्! (तन्निदानं) इस आस्रवके कारण (नवैव) नये ही (सदातनौ) अनादि-

कशसे प्रवृत्त (योगभावौस्तः) योग और आत्माके कषायादिक भाव हैं (तौ) और उन योग और कषायको (त्वं) तू (स परिस्पन्द) आत्माके प्रदेशोमें चञ्चलता सहित (शुभाशुभम्) शुभ और अशुभ रूप (परिणामं) परिणाम (विद्धि) जान । अर्थात्–आत्माके प्रदेशोंकी चचलताको योग और शुभ अशुभ रूप आत्माके परणामोंको कषाय कहते हे ॥ ९६ ॥

नाम्रवोऽयममुदेति ज्ञात्वात्मन्कर्मकारणे ।
तत्सन्निमित्तवैधुर्यादपवार्गोर्ध्वगो भव ॥ ९७ ॥

एवं च त्वयि सत्यात्मन्कर्मास्रवनिरोधनात् ।
नीरन्ध्रपोतवद्भूया निरपायो भवाम्बुधौ ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थः—हे आत्मन्! (एवं च) इस प्रकार (कर्मास्रव निरोधनात्) कर्मोंका आस्रव रुक जानेसे (त्वयि सति) तेरे निरास्रव होनेपर (नीरन्ध्रपोतवत्) रुक गया है जल आनेका द्वार जिसका ऐसी नौकाके समान तेरी आत्मा (भवाम्बुधौ) संसार रूपी समुद्रमें (निरपायः भूयाः) निर्विघ्न हो जायगी ॥५९॥

विकथादिवियुक्तस्त्वमात्मभावनयान्वितः ।
त्यक्तबाह्यस्पृहो भूया गुप्त्याद्यास्ते करस्थिताः ॥६०॥

अन्वयार्थ —हे आत्मन् ! (विकथादिवियुक्तः) विकथादि प्रमादोंसे रहित और (आत्मभावनयान्वितः) आत्म भावनासे युक्त होकर (त्वं) तू (त्यक्तबाह्यस्पृहः भूयाः) बाह्य पदार्थोंमें वाञ्छा रहित हो (तथा सति) ऐसा होनेपर (गुप्त्याद्याः) गुप्त्यादिक (ते) तेरे (करस्थिताः स्युः) हाथपर ही रक्खी हुई वस्तुकी तरह हो जांयगीं ॥ ६० ॥

एवमक्लेशगम्येऽस्मिन्नात्माधीनतया सदा ।
श्रेयोमार्गे मतिं कुर्याः किं बाह्ये तापकारिणि ॥६१॥

अन्वयार्थः—हे आत्मन् ! (एवं) इस प्रकार (सदा) हमेशा (आत्माधीनतया) आत्माकी स्वाधीनतासे (अक्लेशगम्ये) सुलभ प्राप्त (अस्मिन्) इस (श्रेयोमार्गे) मुक्ति मार्गमें (मतिं कुर्याः) अपनी बुद्धि लगा (तापकारिणि बाह्ये) दुःखदायी बाह्य मार्गमें (बुद्ध्याः किं प्रयोजनं) बुद्धि लगानेसे क्या प्रयोजन ? ॥६१॥

शुष्कनिर्बन्धतो बाह्ये मुह्यतस्तव हृद्व्यथा ।
प्रत्यक्षितैव नन्वात्मन्प्रत्यक्षनिरयोचिता ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थः—(हे आत्मन् !) हे आत्मन् ! (बाह्ये) बाह्य पदार्थोंमें (शुष्कनिर्बन्धत) निःसार संबंध करके (मुह्यतः तव) मोह करते हुए तेरे (हृद्व्यथा) हृदयमे पीडा (प्रत्यक्ष निरयोचिता) प्रत्यक्ष नर्कके समान (प्रत्यक्षिता एव) प्रत्यक्ष सिद्ध ही है ॥ ६२ ॥

९ अथ निर्जरानुपेक्षा ।

रत्नत्रयप्रकर्षेण बद्धकर्मक्षयोऽपि ते ।
आध्मातः कथमप्यग्निर्दाह्यं किं वावशेषयेत् ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थः—हे आत्मन् ! (रत्नत्रयप्रकर्षेण) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्रकी वृद्धिसे (ते) तेरे (बद्धकर्म क्षयोऽपि भवेत्) संचित कर्मोंका नाश हो ही जाता है जैसे (आध्मात) धोकनीसे उद्दीप्त हुई (अग्नि) अग्नि (दाह्य) दाह्य वस्तुको (किं) क्या (कथमपि) किसी प्रकार (अवशेषयेत्) बाकी रहने देती है किन्तु नहीं रहने देती ॥ ६३ ॥

क्षयादनास्रवाच्चात्मन्कर्मणामसि केवली ।
निर्गमे चाप्रवेशे च धाराबन्धे कुतो जलम् ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ—(हे आत्मन् !) हे आत्मन् (त्वं) तू (कर्मणां) पूर्व संचित कर्मोंके (क्षयात्) क्षयसे (अनास्रवात् च) और आगामी आनेवाले कर्मोंके निरोधसे (केवली असि) केवली के समान है जैसे ... (जलस्य निर्गमे

संचित जलके निकल जानेपर और (अप्रवेशे च) नवीन जलके नहीं आनेपर (जलम्) जल (कुतः) कहांसे (भवेत) हो सकता है ? ॥ ६४ ॥

रत्नत्रयस्य पूर्तिश्च त्वयात्मन्सुलभैव सा ।
मोहक्षोभविहीनस्य परिणामो हि निर्मलः ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थ.—(हे आत्मन् !) हे आत्मन् ! (तदा) तब (सा रत्नत्रयस्य पूर्तिश्च) वह रत्नत्रयकी पूर्ति (त्वया सुलभा एव) तेरे लिये सुलभ ही हो जायगी (हि) निश्चयसे (मोहक्षोभविहीनस्य) मोहके क्षोभसे रहित जीवके (परिणाम.) परिणाम (निर्मल) निर्मल (भवेत्येव) ही होते है ॥ ६५ ॥

परिणामविशुद्ध्यर्थं तपो बाह्यं विधीयते ।
न हि तण्डुलपाकः स्यात्पावकादिपरिक्षये ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ.—हे आत्मन् ! (परिणामविशुद्ध्यर्थं) परणा-मोंकी शुद्धिके लिये (बाह्यं तप) बाह्य तप (विधीयते) करना चाहिये । अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (पावकादि परिक्षये) अग्नि आदिकके अभावमें (तण्डुलपाक न स्यात) चावलोंका पकना नहीं होता है ॥ ६६ ॥

परिणामविशुद्धिश्च बाह्ये स्यान्निःस्पृहस्य ते ।
निःस्पृहत्वं तु सौख्यं तद्बाह्ये मुह्यसि किं मुधा ॥६७॥

अन्वयार्थः—हे आत्मन (बाह्ये) बाह्य पदार्थोंमें (निःस्पृ-हस्य ते) इच्छा रहित तेरे (परिणामविशुद्धिश्च स्यात्) परिणामोंकी विशुद्धि होगी (तु पुनः) और (निःस्पृहत्वं सौख्यं भवति)

बाह्य पदार्थोंमें इच्छा न करना ही सुख है (तत्तस्मात) इसलिये (बाह्ये) बाह्य पदार्थोंमें (किं) क्यों (मुधा) वृथा (मुह्यसि) मोह करता है ॥ ६७ ॥

गुप्तेन्द्रियः क्षणं वात्मन्नात्मन्यात्मानमात्मना।
भावयन्पश्य तत्सौख्यमास्तां निश्रेयसादिकम् ॥६८॥

अन्वयार्थ—(हे आत्मन् !) हे आत्मन् (गुप्तेन्द्रिय.) जितेन्द्रिय होकर (आत्मनि) आत्मामें (आत्मना) आत्माके द्वारा (आत्मानं) आत्माको (क्षणं भावयन्) क्षणमात्र अनुभव न करता हुआ (त्वं) तू (तत्सौख्यं पश्य) उस सुखको देख (निश्रेयसादिकम् दूरे आस्तां) मोक्षका सुख तो दूर ही रहने दे ॥ ६८ ॥

अनन्तं सौख्यमात्मोत्थमस्तीत्यत्र हि सा प्रमा।
शान्तस्वान्तस्य या प्रीतिः स्वसंवेदनगोचरा ॥६९॥

अन्वयार्थः—(शान्तस्वान्तस्य) शान्त अन्त करणवाले पुरुषोंको (स्वसंवेदन गोचरा) अपने आप अनुभवमें आनेवाली (प्रीतिः) प्रीति हो (आत्मोत्थं) आत्मासे उत्पन्न (अनन्तं सौख्यं) अनन्त सुख है (हि) निश्चयसे इत्यत्र) इसमें (सा प्रमा) यही प्रमाण है ॥ ६९ ।

१०—अथ लोकानुप्रेक्षा।

प्रसारिताङ्घ्रिणा लोकः कटिनिक्षिप्तपाणिना।
तुल्यः पुंसोर्ध्वमध्याधोविभागत्रिस्त्रतः ॥ ७० ॥

अन्वयार्थ—हे आत्मन् ! (ऊर्ध्वमध्याधो विभाग.) ऊर्ध्व लोक, मध्यलोक और अधोलोक ये तीन विभाग हैं जिसके ऐसा

अन्वयार्थः—(हे आत्मन्!) हे आत्मन्! (मुग्धोचितं) मूढ पुरुषोंके भोगने योग्य (सुखं) इन्द्रिय सुखको (मुक्त्वा) छोड़कर (तपसि यतस्व) तप करनेमें यत्न कर अत्र नीतिः ! (हि) निश्चयसे (प्रकाशे) प्रकाश होनेपर (चिरस्थायी) चिरकालसे स्थित (अन्धकारः अपि) अन्धकार भी (विनश्यति) नष्ट हो जाता है ॥ ७३ ॥

११–अथ बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा ।

भव्यत्वं कर्मभूजन्म मानुष्यं स्वङ्गवंश्यता ।
दुर्लभं ते क्रमादात्मन्समवायस्तु किं पुनः ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थः—(हे आत्मन्!) हे आत्मन्! (ते) तेरा (कर्मभूजन्म) कर्म भूमिमें जन्म लेना, (मानुष्यं) मनुष्यपर्यायका पाना, (भव्यत्वं) भव्यता, (स्वङ्गवंश्यता) सुन्दर शरीर और अच्छे कुलमें उत्पन्न होना–ये सब बातें (क्रमात्) क्रमसे (उत्तरोत्तरं दुर्लभं) उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं (तु) और (समवाय.) इन सबका एक जगह मिलना तो (अतीव दुर्लभः) अत्यन्त ही दुर्लभ है ॥ ७४ ॥

व्यर्थः स समवायोऽपि तवात्मन्धर्मधीर्न चेत् ।
कणिशोद्गमवैधुर्ये केदारादिगुणेन किम् ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ —(हे आत्मन्!) हे आत्मन्! अब भी (चेत्) यदि (तव) तेरी (धर्मधी न स्यात्) धर्ममें बुद्धि नहीं हुई (स समवाय· अपि व्यर्थ.) पूर्वोक्त सब बातोंका मिः निष्फल है । अत्र नीति· ! (हि) निश्चयसे (कणिशोद्ग

अन्नके पौधोंमें अन्नयुक्त बालोंके न निकलने पर (केदारादिगुणेन) खेत आदिक सामग्रियोंके उत्तम होनेसे (किं) क्या प्रयोजन ? ॥ ७५ ॥

तद्दात्मन्दुर्लभं गात्रं धर्मार्थं मूढ कल्प्यताम् ।
भस्मने दहतो रत्नं मूढः कः स्यात्परो जनः ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ —(हे मूढात्मन् !) हे मूढात्मन् ! इसलिये (तद् दुर्लभ गात्रं) इस दुर्लभ शरीरको (धर्मार्थं) धर्मके लिये (कल्प्यताम्) संकल्प करदे । अत्र नीति ! (हि) निश्चयसे (भस्मने) भस्मके लिये (रत्न दहत) रत्नको जलाने वाले पुरुषकी अपेक्षा (पर) दूसरा (क) कौन (जन.) मनुष्य (मूढ) मूर्ख (स्यात) है ॥ ७६ ॥

देवता भविता श्वापि देवः श्वा धर्मपापतः ।
तं धर्मं दुर्लभं कुर्या धर्मो हि भुवि कामसूः ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ·—(हे आत्मन्' धर्मपापत) धर्म और पापसे (श्वापि) कुत्ता भी (देवः) देव और (देवता) देवता (श्वा) कुत्ता (भविता) हो जाता है । इसलिये तू (दुर्लभ) दुर्लभ (तं) उस (धर्म) धर्मको (कुर्या) धारण कर (हि) निश्चयसे (भुवि) ससारमे (धर्म) धर्म (कामसू) इच्छित कार्य को पुष्ट करने वाला है ॥ ७७ ॥

भव्यस्याबाह्यचित्तस्य सर्वसत्वानुकम्पिनः ।
करणत्रयशुद्धस्य तवात्मन्बोधिरेधताम् ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थः—(हे आत्मन् !) हे आत्मन् ! (भव्यस्य) भव्य, (अबाह्य चित्तस्य) बाह्य पदार्थोंमे मानसीक वृत्ति रहित,

(सर्वसत्वानुकम्पिनः) सम्पूर्ण जीवोंपर दया करने वाले और (करणत्रयशुद्धस्य) अध करण, अपूर्वकरण तथा अनवृत्तिकरण रूप परिणामोसे निर्मल (तव) तेरे (बोधिःएधताम्) सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी वृद्धि होवे ॥ ७८ ॥

१२–अथ धर्मानुप्रेक्षा ।

पश्यात्मन्धर्ममाहात्म्यं धर्मकृत्यो न शोचति ।
विश्वैर्विश्वस्यते चित्रं स हि लोकद्वये सुखी ॥७९॥

अन्वयार्थ —(हे आत्मन !) हे आत्मन् ! (त्वं) तू (धर्म-माहात्म्यं पश्य) धर्मका माहात्म्य देख (धर्मकृत्यः) धर्म कार्य करने वाला मनुष्य (न शोचति) कभी शोक नहीं किया करता है और (विश्वै: विश्वस्यते) सब मनुष्य उसका विश्वास करते है । (हि) निश्चयसे (चित्र) आश्चर्य है (स) वह (लोकद्वये) दोनों लोकोंमें (सुखी भवति) हमेशा सुखी रहता है ॥ ७९ ॥

तवात्मन्नात्मनीनेऽस्मिञ्जैनधर्मेऽतिनिर्मले ।
स्थवीयसी रुचिः स्थेयादामुक्तेर्मुक्तिदायिनी ॥८०॥

अन्वयार्थ—इसलिये (हे आत्मन् !) हे आत्मन् ! (आ-मुक्ते) जबतक मुक्ति न हो तब तक (आत्मनीने) आत्माका हित करनेवाले, (अति निर्मले) अत्यन्त निर्मल (अस्मिन् जैन धर्मे) इस जैन धर्ममे (तव) तेरी (स्थवीयसी) स्थिर (मुक्तिदायिनी मुक्तिको देनेवाली (रुचि स्थेयात्) रुचि होवे ॥ ८० ॥

इति द्वादशानुप्रेक्षा ।

इत्यनुप्रेक्षया चासीदक्षोभ्यास्य विरक्तता ।
व्यवर हि सतां शैली साहाय्येऽप्यत्र किं

अन्वयार्थः—(इति) इस प्रकार (अनुप्रेक्षया) बारह भावनाओंके चिन्तवन करनेसे (अस्य) इन जीवधर महाराजका (विरक्तता) वैराग्य भाव (अक्षोभ्य) स्थिर (आसीत्) हो गया। अत्र नीतिः! (हि) निश्चयसे (सतां) सज्जन पुरुषोंकी (शैली) किसी कार्यके प्रारम्भ करनेकी प्रवृत्ति (व्यवस्था स्यात्) निश्चल हुआ करती है और (अपि) यदि (अत्र साहाय्ये) इसमें सहायता मिल जाय तो (किं पुनः वक्तव्यः) फिर कहना ही क्या है ॥ ८१ ॥

विरक्तो राज्यमन्यच्च न तृणायाप्यमन्यत ।
हस्तस्थेऽप्यमृते को वा तिक्तसेवापरायणः ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थः—(विरक्त) फिर संसारके विषयोंसे विरक्त जीवधर महाराजने (राज्यं) अपने राज्यको (अन्यच्च) और सब पदार्थोंको (तृणाय अपि) तृणके समान भी (न अमन्यत) नहीं समझा। अत्र नीति! निश्चयसे (हस्तस्थे) हाथमें रक्खे हुए (अमृतेऽपि) अमृतके होने पर भी (को वा) कौन बुद्धिमान् पुरुष (तिक्तसेवापरायणः स्यात) कड़वी वस्तुके सेवन करनेमें तत्पर होगा? कोई भी नहीं ॥ ८२ ॥

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य संपूज्य परमेश्वरम् ।
योगीन्द्रादशृणोद्धर्ममधीती जिनशासने ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थः—(ततः) तदनन्तर (जिनशासने अधीती) जैन शास्त्रोंके जाननेवाले उन जीवंधर स्वामीने (तस्मात् विनिर्गत्य) वहांसे आकर (परमेश्वरम् संपूज्य) जिनेन्द्र भगवानकी पूजा कर (योगीन्द्रात) किसी ऋद्धिधारी मुनिसे (धर्मं अशृणोत्) धर्म श्रवण किया ॥ ८३ ॥

धर्मश्रुतेर्बभूवायं धार्मविद्योऽतिनिर्मलः ।
अत्युत्कटो हि रत्नांशुस्तद्ज्ञवेकटकर्मणा ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ.—और फिर (धर्मश्रुते.) धर्मका स्वरूप सुननेसे (अयं) यह जीवधर कुमार (अति निर्मल·) अत्यंत निर्मल (धार्मविद्य बभूव) धर्म विद्याके जाननेवाले होगये। अत्र नीति ! (हि) निश्चयने जिस प्रकार (रत्नांशु) रत्नोकी किरणें (तद्ज्ञवेकटकर्मणा) रत्नको शान पर रखनेवाले चतुर मनुष्यकी चमक आनेकी चतुराईसे (अत्युत्कट अभूत्) अत्यन्त उज्वल होजाती है उसी प्रकार जीवंधर स्वामी और धर्मका स्वरूप सुननेसे और भी बड़े भारी तत्वज्ञाता हो गये ॥ ८४ ॥

पुनश्चारणयोगीन्द्रः पूर्वजन्मबुभुत्सया ।
भूपेन परिपृष्टोऽयमाचष्टास्य पुराभवम् ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थः—(पुनश्च) फिर (पूर्वजन्मबुभुत्सया) अपने पूर्वजन्मके वृत्तान्तको जाननेकी इच्छासे (भूपेन) राजाने (परिपृष्ट.) पूछे गये हुए (अयं चारणयोगीन्द्र) उन चारण मुनिने (अस्य पुराभवम्) इन जीवंधर महाराजके पूर्वजन्मका वृत्तान्त (आचष्ट) इस प्रकार कहा ॥ ८५ ॥

अब अगाड़ीके ६ श्लोकोंमे चारण मुनि जीवंधर महाराजके पूर्वजन्मका वृत्तान्त कहते हैं ॥

भूपेन्द्र धातकीखण्डे भूम्यादितिलके पुरे ।
सूनुः पवनवेगस्य राज्ञोऽभूस्त्वं यशोधरः ॥ ८६ ॥

अन्वयार्थः—(हे भूपेन्द्र !) हे राजन् ! (धातकी ख- ण्डनामके द्वीपमें (भूम्यादितिलके पुरे) भूमि

नामके पुरमें (त्वं) तुम (राज्ञ पवनवेगस्य) राजा पवनवेगका (यशोधरः सूनुं अभूः) यशोधर नामके पुत्र थे ॥ ८६ ॥

राजहंस कदाचित्त्वं राजहंसस्य शावकम् ।
नीडात्क्रीडार्थमानीय निरवद्यमवीवृधः ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ — हे राजहंस !) हे राजश्रेष्ठः (त्वं) तुमने (कदाचित्) किसी समय (राजहंसस्य शावकम्) हंसके बच्चेको (क्रीडार्थं) खेलनेके लिये (नीडात् आनीय) घोंसलेसे लाकर (निरवद्यं यथास्यात्तथा अवीवृध) उसका निर्दोषतासे पालन पोषण किया ॥ ८७ ॥

तत्कुतोऽपि समाकर्ण्य धार्मिकः स ते पिता ।
तदा धर्ममुपादिक्षद्यतोऽभूरतिधार्मिकः ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थ —(तदा) उस समय (धार्मिक) धर्मात्मा (सः) उस (ते) तुम्हारे (पिता) पिताने (तत् कुतः अपि) यह बात कहींसे (समाकर्ण्य) सुनकर तुमको (धर्मं उपादिक्षत्) धर्मका उपदेश दिया (यतः) जिस उपदेशके सुननेसे (त्वं) तुम (अति धार्मिक अभूः) अत्यन्त धर्मात्मा बन गये ॥ ८८ ॥

निवारितोऽपि पित्रा त्वमतिनिर्वेदतस्ततः ।
जातरूपधरो जातः स्त्रीभिरष्टाभिरन्वितः ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थः—(ततः) फिर (पित्रा) पितासे (निवारित अपि) रोके हुए भी (त्वं) तुम (अतिनिर्वेदतः) अत्यन्त वैराग्यके कारण (अष्टाभिः स्त्रीभिः अन्वित.) आठ स्त्रियों करके सहित (जातरूपधरः जात.) दिगम्बरी मुनि हो गये ॥ ८९ ॥

घोरेण तपसा लब्ध्वा देवत्वं च त्रिविष्टपात् ।
अष्टाभिः स्त्रीभिरेताभिरत्राभूर्भव्यपुङ्गव ॥ ९० ॥

अन्वयार्थः—(हे भव्यपुङ्गव !) हे भव्य श्रेष्ठ ! फिर (त्वं) तुम (घोरेण तपसा) घोर तपश्चरणके द्वारा (देवत्वं च लब्ध्वा) देव पर्यायको प्राप्त कर (त्रिविष्टपात्) फिर उस स्वर्गसे चयकर (अत्र) यहांपर (एताभिः अष्टाभि. स्त्रीभिः सह) इन आठ स्त्रियोंके साथ (अभू:) उत्पन्न हुए हो ॥ ९० ॥

स्वपदाद्बालहंसस्य पितृभ्यां च पुराभवे ।
वियोजनाद्वियोगस्ते वन्धोऽभूदिव वन्धनात् ॥९१॥

अन्वयार्थः—इस लिये (पुराभवे) पूर्व जन्ममें (बालहंसस्य) हंसके बच्चेको (स्वपदात्) उसके स्थान (पितृभ्यां च) और माता पितासे (वियोजनात) वियोग करानेसे (ते वियोगः) स्थान और माता पितासे वियोग और (बन्धनात्) उस बच्चेको पिंजरेमें बन्द कर रोकनेसे (वन्ध अभूत) तुम्हारा बन्धन हुआ ॥ ९१ ॥

इति योगीन्द्रवाक्येन भोगीव पविपाततः ।
भीतो राज्यादयं राजा प्रणम्य स्वपुरीमयात् ॥९२॥

अन्वयार्थः—(इति योगीन्द्र वाक्येन) इस प्रकार मुनिके वचनोसे (पविपाततः) विजलीके गिरनेसे (भीत भोगी इव) डरे हुए सर्पकी तरह (राज्यात् भीतः) राज्यसे भयभीत ([illegible] राजा) यह जीवंधर महाराज (प्रणम्य) मुनिको नमस्कार कर [illegible] पुरी अयात) अपनी नगरीमें आये ॥ ९२ ॥

सद्धर्मामृतपानेन सानुजास्तस्य वल्लभाः ।
विषप्रख्यममन्यन्त तत्सौख्यं विषयोद्भवम् ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थः—(सानुजाः) इनके छोटे भाई सहित (तस्य-वल्लभाः) इनकी आठों स्त्रियोंने (सद्धर्मामृतपानेन) धर्म रूपी अमृतको पान करनेसे (विषयोद्भवं सौख्यं) पंचेन्द्रियोंके विषयसे उत्पन्न सुखको (विषप्रख्यं अमन्यन्त) विषके समान समझा ॥९३॥

तत्र गन्धर्वदत्तायाः पुत्रं सत्यंधराह्वयम् ।
अभिषिच्य ततस्ताभिः प्रापदास्थायिकां कृती ॥९४॥

अन्वयार्थः—(तत्र) वहां पर (कृती) बुद्धिमान जीवंधर महाराजने (गन्धर्वदत्तायाः) गन्धर्वदत्ताके (सत्यंधराह्वयम्) सत्यंधर नामके (पुत्रं) पुत्रको (अभिषिच्य) राज्य भिषेक करके (ततः) फिर (ताभिः सह) अपनी आठ स्त्रियोंके साथ (आस्थायिकां प्रापत्) भगवानके समोसरणमें पहुंचे ॥ ९४ ॥

श्रीसभायां समभ्येत्य श्रीवीरं जिननायकम् ।
पूजयामास पूज्योऽयमस्तावीच्च पुनः पुनः ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थः—फिर (अय पूज्यः) इन पूज्य जीवंधर महा-राजने (श्री सभायां समभ्येत्य) समवसरण सभामें पहुंचकर (जिननायकं श्रीवीरं) जिनेन्द्र श्रीमहावीर स्वामीकी (पूजया मास) पूजा की और (पुन २ अस्तावीत्) फिर वारंवार उनका स्तवन किया ॥ ९५ ॥

भगवन्भवरोगेण भीतोऽहं पीडितः सदा ।
स्वयकारणवैद्योऽपि सत्वा किं तस्य कारणा ॥९६॥

अन्वयार्थ.—(हे भगवान् !) हे भगवान् ! (अहं) मैं (भवरोगेण) संसारके जन्म मरणके रोगसे (सदा) हमेशासे (पीड़ितः) पीडित और (भीत अस्मिः) भयभीत हूं तौ भी (त्वयि अकारणवैद्येऽपि) आपके अकारण वैद्य होनेपर भी (किं) क्या (तस्य कारणा) उसकी वेदना (सह्या) सहने योग्य है ? अर्थात् आप इस वेदनाको शीघ्र ही नष्ट करें ॥ ९६ ॥

त्वं सार्वः सर्वविद्देव सर्वकर्मणि कर्मठः ।
भव्यश्चाहं कुतो वा मे भवरोगो न शाम्यति ॥९७॥

अन्वयार्थः—(हे देव !) हे देव ! (त्व) आप (सार्वः) सबके हित करने वाले (सर्ववित्) सब कुछ देखने जाननेवाले और (सर्वकर्मणि कर्मठः) संपूर्ण सचित कर्मोंके नाश करनेमें शूर-वीर (असि) हो (च) और (अहं) मैं (भव्यः) एक भव्य हूं तो (मे भवरोगः) मेरा संसारका रोग (कुत वा न शाम्यति) क्यों शान्त नहीं होता ॥ ९७ ॥

निर्मोह मोहदावेन देहजीर्णोरुकानने ।
दह्यमानतया शश्वन्मुह्यन्तं रक्ष रक्ष माम् ॥ ९८ ॥

अन्वयार्थः—(हे निर्मोह !) हे मोहरहित जिनेन्द्र ! (देह जीर्णोरुकानने) देह रूपी पुरानी बड़ी भारी अटवीमें (मोहदावेन) मोह रूपी दावानलसे (दह्यमानतया) जलनेके कारण (शश्वत मुह्यन्तं) निरंतर विवेक रहित (मां) मुझको (रक्ष ! रक्ष ! !) रक्षा करो ! ! ॥ ९८ ॥

संसारविषवृक्षस्य सर्वापत्फलदायिनः ।
अङ्कुरं रागमुन्मूलं वीतराग विधेहि मे ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ —(हे वीतराग !) हे वीतराग ! (सर्वापत्फलदा-यिन·) सर्व प्रकारकी विपत्ति रूपी फलको देनेवाले (संसारविष वृक्षस्य) संसार रूपी विषवृक्षके (अंकुरं) अंकुरके समान (मे रागं) मेरे राग भावको (उन्मूलं विधेहि) जडसे रहित करदे ॥ ९९ ॥

कर्णधार भवार्णोधेर्मध्यतो मज्जता मया ।
कृच्छ्रेण बोधिनौर्लब्धा भूयान्निर्वाणपारगा ॥१००॥

अन्वयार्थ·—(हे कर्णधार !) हे सच्चे खेवटिया भगवत् ! (भवार्णोधे मध्यत·) संसार रूपी समुद्रके मध्यमें (मज्जता मया) डूबते हुए मेरे द्वारा कृच्छ्रेणलब्धा) बडी कठिनाईसे प्राप्त की हुई (बोधिनौ·) रत्नत्रय रूपी नौका (निर्वाणपारगा भूयात्) ...क्ष रूपी पार पर पहुंचाने वाली होवै ॥ १०० ॥

...त्र ... च लब्ध्वायं त्रिजगद्गुरोः ।
... जिनदीक्षायामानमद्गणनायकम् ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थ —(इति त्रिजगद्गुरो) इस प्रकार तीन जगतके स्वामी महावीर स्वामीके (स्तोत्रावसाने) स्तवनके अन्तमें (अय) इन्होने (...) आज्ञा पाकर (जिन दीक्षायाम्) जिन ... (गणनायकम्) गणधरको (आनमत्) ...०१ ॥

तत्पार्श्वे तपस्तेपेऽतिदुश्चरम् ।
... नष्टना स्याद्यथाक्रमम् ॥१०२॥

अन्वयार्थः—फिर (प्राज्ञ·) बुद्धिमान राजाने (... ...क्षा ग्रहण करके (तत्पार्श्वे) महावीर स्वामीके निकट (

दुश्चरम् तपः) बहुत केठोर तप (तेपे) किया (येन) जिस तपके द्वारा (कर्माष्टकस्य) आठ कर्मोंका (नष्ट्वा) नाशपना (यथाक्रमम् स्यात्) यथाक्रमसे होता है ॥ १०२ ॥

श्रीरत्नत्रयपूर्त्याथ जीवंधरमहामुनिः ।
अष्टाभिः स्वगुणैः पुष्टोऽनन्तज्ञानसुखादिभिः ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके अनंतर (जीवधर महामुनि.) वे जीवंधर महामुनि (श्रीरत्नत्रयपूर्त्या) श्रीसम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी ...ासे (अनन्तज्ञानसुखादिभिः) अनन्त सुखादिक (अष्टाभि. आठ आत्माके ... गुणोंसे (पुष्ट अभूत्) पुष्ट ...३ ॥

...लोकोत्तर ... लाख्यामकेवलाम् ।
...नन्तां ... ते श्रियम् ॥ १०४ ॥

... त्वा) सिद्ध पदवीको प्राप्त ... ट (अनुपमा) उपमा रहित ... केवलज्ञान रूपी ...

अन्वयार्थः—(हे वीतराग !) हे वीतराग ! (सर्वापत्फलदा-यिनः) सर्व प्रकारकी विपत्ति रूपी फलको देनेवाले (संसारविष वृक्षस्य) संसार रूपी विषवृक्षके (अङ्कुर) अंकुरके समान (मे रागं) मेरे राग भावको (उन्मूलं विधेहि) जडसे रहित करदे ॥ ९९ ॥

कर्णधार भवार्णोधेर्मध्यतो मज्जता मया ।
कृच्छ्रेण बोधिनौर्लब्धा भूयान्निर्वाणपारगा ॥१००॥

अन्वयार्थ —(हे कर्णधार !) हे सच्चे खेवटिया भगवन् ! (भवार्णोधे मध्यत) संसार रूपी समुद्रके मध्यमें (मज्जता मया) डूबते हुए मेरे द्वारा कृच्छ्रेणलब्धा) बडी कठिनाईसे प्राप्त की हुई (बोधिनौः) रत्नत्रय रूपी नौका (निर्वाणपारगा भूयात्) मुझे मोक्ष रूपी पार पर पहुंचाने वाली होवै ॥ १०० ॥

इति स्तोत्रावसाने च लब्ध्वायं त्रिजगद्गुरोः ।
अनुज्ञां जिनदीक्षायामानमद्गणनायकम् ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थः—(इति त्रिजगद्गुरोः) इस प्रकार तीन जगतके स्वामी महावीर स्वामीके (स्तोत्रावसाने) स्तवनके अन्तमें (अय) इन्होंने (अनुज्ञा लब्ध्वा) आज्ञा पाकर (जिन दीक्षायाम्) जिन दीक्षा लेनेके प्रारभमें (गणनायकम्) गणधरको (आनमत्) नमस्कार किया ॥ १०१ ॥

प्रव्रज्य तत्पार्श्वे तपस्तेपेऽतिदुश्चरम् ।
कर्माष्टकस्यापि नष्टता स्याद्यथाक्रमम् ॥१०२॥

अन्वयार्थः—फिर (प्राज्ञः) बुद्धिमान राजाने (प्रव्रज्य) ९ करके (तत्पार्श्वे) महावीर स्वामीके निकट (अति

दुश्चरन् तपः) बहुत कठोर तप (तेपे) किया (येन) जिस तपके द्वारा (कर्माष्टकस्य) आठ कर्मोंका (नश्यता) नाशपना (यथाक्रमम् स्यात्) यथाक्रमसे होता है ॥ १०२ ॥

श्रीरत्नत्रयपूर्त्याथ जीवंधरमहामुनिः ।
अष्टाभिः स्वगुणैः पुष्टोऽनन्तज्ञानसुखादिभिः ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके अनंतर (जीवंधर महामुनि) वे जीवंधर महामुनि (श्रीरत्नत्रयपूर्त्या) श्रीसम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी परिपूर्णतासे (अनन्तज्ञानसुखादिभिः) अनन्त सुखादिक (अष्टाभिः स्वगुणैः) आठ आत्माके स्वाभाविक गुणोंसे (पुष्टः अभूत्) पुष्ट हुए ॥ १०३ ॥

सिद्धो लोकोत्तराभिख्यां केवलाख्यामकेवलाम् ।
अनुपमामनन्तां तामनुबोभूयते श्रियम् ॥ १०४ ॥

अन्वयार्थ—फिर (सिद्धः भूत्वा) सिद्ध पदवीको प्राप्त कर (लोकोत्तराभिख्यां) सर्व लोकसे उत्कृष्ट (अनुपमां) उपमा रहित (तां प्रसिद्ध, अनन्तां) अनन्त (केवलाख्यां) केवलज्ञान रूपी (अकेवलां) (श्रियं) मुख्य मोक्षरूपी लक्ष्मीका (अनुबोभूयते) अनुभव किया १०४॥

एवं निर्मलधर्मनिर्मितमिदं शर्म स्वकर्मक्षय-
प्राप्तं प्राप्तुमनुच्छमिच्छतितरां यो वा महेच्छो जनः ।
सोऽयं दुर्मतकुञ्जरप्रहरणे पञ्चाननं पावनं
जैनं धर्ममुपाश्रयेत मतिमान्निःश्रेयसः प्राप्तये ॥१०५॥

अ[illegible] (यो वा महेच्छो जनः) जो उत्तम [illegible] र (निर्मलधर्मनिर्मितं) प
पूर्ण ([illegible]

सेवन करनेसे रचित (स्वकर्मक्षयजं) आत्माके अन्द कर्मोंके नाश होनेसे प्राप्त (अनुच्छं) महान (इदं शर्म) इस सुखको (प्राप्तुं) प्राप्त करनेके लिये (इच्छतितरा) अतिशय इच्छा करता है (स अयं मतिमान्) वह यह बुद्धिमान पुरुष (निश्रेयसः प्राप्तये) मोक्षकी प्राप्तिके लिये (दुर्मतकुञ्जर प्रहरणे) मिथ्या मन रूपी हस्तियोंके नाश करनेके लिये (पञ्चाननं) सिंहके समान (पावन) पवित्र (जैनधर्मं) जिनेन्द्र प्रणीत धर्मको (उपाश्रयेत) धारण करे ॥ १०२ ॥

राजतां राजराजोऽयं राजराजो महोदयैः ।
तेजसा वयसा शूरः क्षत्रचूडामणिर्गुणैः ॥ १०३ ॥

अन्वयार्थः—(गुणै. क्षत्रचूडामणिः) राजाके गुणोंसे क्षत्रियोंके शिरोभूषण, (तेजसा) तेज (च) और (वयसा) युव वस्थासे (शूरः) शूरवीर (महोदयैः) महान ऐश्वर्यसे (राजराजः) कुवेरके समान (अयं राजराज.) ये राजाओंके राजा जीवंधर महाराज निरतर (राजतां) शोभायमान होवें ॥ १०३ ॥

इति ।

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ सान्वयार्थो मुक्ति श्री लम्भो नाम एकादशोलम्बः ।

सेवन करनेसे रचित (स्वकर्मक्षयपाप्तं) आत्माके अष्ट कर्मोंके नाश होनेसे प्राप्त (अतुच्छं) महान (इदं शर्म) इस सुखको (प्राप्तुं) प्राप्त करनेके लिये (इच्छतितरां) अतिशय इच्छा करता है (सः अयं मतिमान्) वह यह बुद्धिमान पुरुष (निश्रेयसः प्राप्तये) मोक्षकी प्राप्तिके लिये (दुर्मतकुञ्जर प्रहरणे) मिथ्या मत रूपी हस्तियोंके नाश करनेके लिये (पञ्चाननं) सिंहके समान (पावनं) पवित्र (जैनंधर्मं) जिनेन्द्र प्रणीत धर्मको (उपाश्रयेत) धारण करे ॥ १०१ ॥

राजतां राजराजोऽयं राजराजो महोदयैः ।
तेजसा वयसा शूरः क्षत्रचूडामणिर्गुणैः ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थः—(गुणैः क्षत्रचूडामणिः) राजाके गुणोंसे क्षत्रियोंके शिरोभूषण, (तेजसा) तेज (च) और (वयसा) युवावस्थासे (शूरः) शूरवीर (महोदयैः) महान ऐश्वर्यसे (राजराजः) कुवेरके समान (अयं राजराजः) ये राजाओंके राजा जीवंधर महाराज निरंतर (राजतां) शोभायमान होवें ॥ १०२ ॥

इति ।

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ सान्वयार्थो मुक्ति श्री लम्भो नाम एकादशोलम्बः ।